**Registration No. V-36244/2008-09** **ISSN :- 2395-0390**

**The journal has been listed in 'UGC Approved List of Journals' with Journal No. – 48402 in previous list of UGC**

**JIFE Impact Factor – 5.21**

# *Varanasi Management Review*

***A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Referred Research Journal***

*Editor in Chief*
**Dr. Alok Kumar**
Associate Professor & Dean (R&D)
School of Management Sciences
Varanasi

**Volume - XI** **No. - 4** **(Oct. – Dec.) 2025**

***Published by***
**Future Fact Society**
**Varanasi (U.P.) India**

*Varanasi Management Review* - **A Multidisciplinary Quarterly International Referred Research Journal**, *Published by : Quarterly*

**Correspondence Address :**
**C 4/270, Chetganj**
**Varanasi, (U.P.)**
**Pin. - 221 010**
**Mobile No. :- 09336924396**
**Email- vnsmgrev@gmail.com**

**Note :-**

The views expressed in the journal "Varanasi Management Review" are not necessarily the views of editorial board or publisher. Neither any member of the editorial board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

**Managing Editor**
*Avinash Kumar Gupta*

©Publisher

***ISSN : 2395-0390***

**Printed by**
Interface Computer, B 31/13-6, Malviya Kunj, Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

## ADVISORY BOARD


- **Prof. T. N. Singh,** School of Plant Sciences, Haramaya University, Ethiopia (Africa)
- **Prof. S.K. Bhatnagar,** School for Legal Studies, BBAU, Lucknow
- **Prof. (Dr.) Munna Singh**, Head of Department, Physical Education and Sports Sciences Department, Handia P.G. College, Handia, Prayagraj, U.P.
- **Dr. Saumya Singh,** Associate Professor, Department of Management Studies, Indian School of Mines, Dhanbad
- **Dr. Mrinalini Pandey,** Associate Professor, Department of Management Studies, Indian School of Mines, Dhanbad
- **Dr. Achchhe Lal Yadav**, Assistant Professor, Physical Education, Pt. D. D. U. Government Degree College, Saidpur, Ghazipur
- **Dr. Aditya Kumar Gupta,** Assistant Professor, School of Management Sciences, Varanasi
- **Dr. Abhishek Sharma,** Assistant Professor, Department of Hindi, Ravenshaw University, Cuttack
- **Dr. A. Shanker Prakash,** Assistant Professor, School of Management Sciences, Varanasi
- **Dr. Anil Pratap Giri,** Assistant Professor, Department of Sanskrit, Pondicherry Central University, Pondicherry.

**EDITORIAL BOARD**

- **Dr. Sanjay Singh,** Department of Plant Science, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Dr. Diwakar Pradhan,** Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Nagendra Kumar Singh,** Professor, Department of Journalism & Mass Communication, Mahatma Gandhi Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Manish Arora,** Associate Professor, Faculty of Visual Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Surjoday Bhattacharya,** Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh U P
- **Dr. Upasana Ray,** Associate Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Krishna Kant Tripathi,** Assistant Professor, Deptt. of Education, Central University of Mijoram, Mijoram
- **Dr. Urjaswita Singh,** Assistant Professor, Department of Economics, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Santosh Kumar Singh,** Assistant Professor, P.G. Department of Psychology, J.P. University. Chapra
- **Dr. Ramkirti Singh,** Assistant Professor, Department of Psychology, Gorakhpur University, Gorakhpur
- **Dr. Girish Kumar Tiwari,** Assistant Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi

- **Dr. Ranjeet Kumar Ranjan,** Assistant Professor, Department of Psychology, J.P. College, Narayanpur, Bihar
- **Dr. Paromita Chaubey,** Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi

# EDITOR'S NOTE

It is a great honour to me to extend my warm greetings and welcome you all to the journal, **Varanasi Management Review,** a refereed journal of multi disciplinary research. The journal, which is a peer-reviewed, will devote to the promotion of multi-disciplinary research and explorations to the South Asian and global community. It is our objective to provide a platform for the publication of new scholarly articles in the rapidly growing field of various disciplines. We are trying to encourage new research scholars and post graduate students by publishing their papers so that they may learn and participate in literary publishing through a professional internship. Scholarly and unpublished research articles, essays and interviews are invited from scholars, faculty researchers, writers, professors from all over the world.

**Note:** All outlook and perspectives articulated and revealed in our peer refereed journal are individual responsibility of the author concerned. Neither the editors nor publisher can be held responsible for them anyhow. Plagiarism will not be allowed at any level. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Hoping all of you shall enjoy our endeavors and those of our contributors.

**Editor**

CONTENTS

*"Varanasi Management Review"*


| | | |
|---|---|---|
| ➲ | असहयोग आंदोलनः भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में इसकी भूमिका और प्रभाव<br>***हिमांशु सिंह*** | 01-06 |
| ➲ | वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा का बहुआयामी विश्लेषणः मनःस्वास्थ्य, सामाजिक सहभागिता एवं आर्थिक स्वतंत्रता के परिप्रेक्ष्य में<br>***अनिता कुमारी***<br>***डॉ. रामदेव प्रसाद*** | 07-13 |
| ➲ | स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ<br>***डॉ. देवेन्द्र कुमार सिंह*** | 14-17 |
| ➲ | मंजूर एहतेशाम कृत सूखा बरगद की तात्विक समीक्षा<br>***डॉ. विशेष चंद्र गुप्त*** | 18-23 |
| ➲ | मीरजापुर जनपद की कला परम्परा<br>***प्रभाश दूबे*** | 24-25 |
| ➲ | भारतीय ज्ञान परम्परा के आलोक में समकालीन कौशल–आधारित शिक्षा का विश्लेषणात्मक अध्ययन<br>***डॉ. दिनेश सिंह*** | 26-31 |
| ➲ | घरेलू महिलाओं के अदृश्य श्रम की वर्तमान स्थितिः भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में<br>***पंकज चन्द्र गोस्वामी*** | 32-34 |
| ➲ | यमुना–माहात्म्य<br>***डॉ. आदित्य नाथ*** | 35-39 |
| ➲ | नई कहानीः संवेदना एवं विकास<br>***प्रो. अखिलेश राम*** | 40-42 |
| ➲ | स्वामी सहजानन्द सरस्वती और किसान आंदोलन : एक ऐतिहासिक विश्लेषण<br>***बिभा कुमारी*** | 43-46 |
| ➲ | काशी की सांस्कृतिक विरासत और चित्रकला का विकासात्मक अध्ययन<br>***चन्दा यादव*** | 47-50 |
| ➲ | उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्र–छात्राओं की धार्मिक अभिवृत्ति का आधुनिकीकरण से सम्बन्धों का तुलनात्मक अध्ययन<br>***डॉ. सुरेन्द्र यादव*** | 51-55 |
| ➲ | हिंदी पत्रकारिता में जातिगत राजनीति (स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान)<br>***रोहित रावत*** | 56-59 |
| ➲ | पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन में वैदिक संस्कृतियों का योगदान : एक अध्ययन<br>***संदीप कुमार***<br>***डॉ. अमृत कुमार*** | 60-63 |

# असहयोग आंदोलनः भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में इसकी भूमिका और प्रभाव

हिमांशु सिंह*

**सारांश**

भारत के स्वतंत्रता संघर्ष के इतिहास में असहयोग आंदोलन एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पड़ाव था। यह आंदोलन महात्मा गांधी के नेतृत्व में 1920 सें 1922 तक चलाया गया, जिसका उद्देश्य अहिंसक तरीके सें ब्रिटिश शासन के विरुद्ध असहयोग कर स्वराज की प्राप्ति करना था।रोलेट एक्ट,जलियांवाला बाग हत्याकांड तथा अन्याय पूर्ण शासन के फलस्वरूप भारतीय लोग आक्रोश सें भर चुके थे।इस आंदोलन ने स्वतंत्रता संघर्ष को व्यक्ति या क्षेत्र विशेष के सीमित राजनीतिक आंदोलन के दायरे से निकालकर एक व्यापक जनांदोलन का रूप दिया।इस आदोलन में विद्यार्थियों,किसानो,मजदूरो, महिलाओं और व्यापारी वर्ग ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया ।

यद्यपि चौरी-चौरा की हिंसक घटना के बाद गांधी जी ने आंदोलन को स्थगित कर दिया लेकिन तब तक इस आंदोलन ने भारतीय राजनीति व भारतीय लोगो में असहयोग, स्वराज व राष्ट्रीय एकता की चेतना के बीज स्थायी रूप से स्थापित कर दिए थे।इस आंदोलन को संचालित करते हुए महात्मा गांधी ने ब्रिटिश हुकूमत का विरोध करते हुए कहा किं,

"सरकार को बता दो कि हमें चाहें फासी पर लटका दे, चाहे जेल मे बंद कर दे, उसे हमारा सहयोग किसी भी हालत में नही प्राप्त होगा (प्रधान,2017,पृ.230)।"

**बीज शब्द-** असहयोग, स्वतंत्रता, स्वराज, बहिष्कार, खिलाफत, असंतोष, दमन-चक्र, जलियांवाला, अहिंसक प्रतिरोध

**असहयोग आंदोलन की पृष्ठभूमि**

**प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत की स्थिति-**स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र और आत्मनिर्णय के अधिकार की रक्षा के नाम पर लड़े गए प्रथम विश्व-युद्ध के समय भारतीय जनता से धन-जन की सहायता प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों को यह आश्वासन दिया था कि भारत में शीघ्रातिशीघ्र उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाएगी। लेकिन युद्ध की समाप्ति के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत को पूर्ण स्वराज्य न देकर सन् 1919 ई. में मात्र भारतीय शासन अधिनियम पारित कर दिया जो भारतीय जनता की आशाओं के विपरीत था। इस अधिनियम से कोई भारतीय सन्तुष्ट नहीं था। इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों में तो आंशिक स्वशासन लागू किया गया था परन्तु केन्द्रीय सरकार को सर्वथा निरंकुश रखा गया था।इतना ही नहीं, सरकार द्वारा युद्ध में व्यय की गई अपार धनराशि जो लगभग डेढ़ अरब पौण्ड से भी अधिक थी उसे भारतीय जनता से करारोपण करके जबरदस्ती वसूल किया गया दूसरी ओर आवश्यक वस्तुओं के मूल्यों में असाधारण वृद्धि करके भी धन की वसूली की गई(अग्रवाल,2014,पृ.115)।

विश्व प्रथम विश्व युद्ध के बाद में देश में आम लोगों की आर्थिक स्थिति बदतर हो चुकी थी। बढ़ती महंगाई की मार ने भारत में भुखमरी,अकाल तथा महामारी जैसी समस्या को और बढ़ावा दिया जिससे लोगों में शासन के प्रति असंतोष चरम पर पहुंच गया था।

**रौलेट एक्ट-**प्रथम विश्व-युद्ध के बाद भी ब्रिटिश सरकार क्रान्तिकारियों पर नियन्त्रण के नाम पर अपना दमन-चक्र निरन्तर बनाए रखना चाहती थी, जबकि युद्ध की समाप्ति के बाद इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी।

* ***शोध छात्र, इतिहास विभाग, सामाजिक विज्ञान संकाय, का.हि.वि.वि, वाराणसी (उ.प्र.), 221005**
Email. Id- hs329877@gmail.com

लेकिन अंग्रेज सरकार क्रान्तिकारियों के कृत्यों की जाँच करने और उनका दमन करके भारतीयों की राष्ट्रीय भावना कुचलना चाहती थी। इसके लिए ब्रिटिश सरकार ने सन् 1917 ई. में सर सिडनी रौलेट की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। इस समिति को भारत में क्रान्तिकारियों व आतंकवादियों की गतिविधियों की जाँच करने व उनके द्वारा चलाए जा रहे आन्दोलनों को दबाने के लिए कैसे कानून बनाए जाएँ, विषयक रिपोर्ट देने के लिए कहा गया। समिति ने लगभग चार महीने जाँच-पड़ताल की और अप्रैल, 1918 ई. में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में कहा गया कि भारत के वर्तमान फौजदारी कानून क्रान्तिकारियों और उनकी गतिविधियों को कुचलने के लिए अपर्याप्त हैं। समिति ने सलाह दी कि एक ऐसा कानून बनाया जाए जो युद्ध समाप्त होने पर भारतीय सुरक्षा अधिनियम के विकल्प के रूप में उपयोग किया जा सके तथा वर्तमान फौजदारी कानून में संशोधन किया जाए जिससे किसी भी आन्दोलन को कुचला जा सके।अत: भारत के सभी वर्गों ने इसका विरोध किया इसके बावजूद भी सरकार ने दो विधेयक तैयार कर उन्हें पारित कर दिया जिसे रौलेट एक्ट के नाम से जाना जाता है(अग्रवाल,2014,पृ.115)।

इस अधिनियम को हथियार बनाकर अंग्रेजी हुकूमत किसी भी व्यक्ति को संदिग्ध गतिविधियों में शामिल बताकर उसको जब तक उसकी इच्छा हो जेल मे रख सकती थी।

26 फरवरी,1919 को महात्मा गाँधी ने सभी भारतवासियों के नाम एक 'खुला पत्र' जारी करके उनसे सत्याग्रह में शामिल होने का आग्रह किया। उन्होंने 6 अप्रैल को एक आम हड़ताल के साथ एक राष्ट्रवादी आंदोलन शुरू करने का निर्णय किया। लेकिन आंदोलन शीघ्र ही, खासकर 9 अप्रैल को गांधी की गिरफ़्तारी के बाद, हिंसा के भँवर में फँस गया। सरकार के पास ऐसे व्यापक जन-आंदोलन से निबटने के बारे में पहले का कोई अनुभव नहीं था।परेशानी से बचने के लिए उन्होंने गांधी को गिरफ़्तार कर लिया, पर इससे एक संकट फूट पड़ा तथा दिल्ली, अहमदाबाद और अमृतसर जैसे क्षेत्रों में जनता का अभूतपूर्व गुस्सा उमड़ पड़ा (बंदोपाध्याय, 2017)।

आंदोलन तो आगे चलकर हिंसा की भेंट चढ़ गया लेकिन निश्चित तौर पर ब्रिटिश हुकूमत के प्रति जनता में आक्रोश और बढ़ गया।

**जलियांवाला बाग हत्याकांड-** 13 अप्रैल,1919 को अमृतसर के जलियांवाला बाग में जनरल डायर के आदेश पर निहत्थे भारतीयों पर गोलियां चलाई गईं,जिसमें सैकड़ों लोग मारे गए और हजारों घायल हुए। यह घटना ब्रिटिश शासन की क्रूरता और अमानवीयता का प्रतीक बन गई। डायर ने फौजियों को राइफल और मशीनगनो द्वारा अंदर घिरी भीड़ पर गोली बरसाने का हुक्म दिया। वे तब तक गोली बरसाते रहे जब तक की गोलियां खत्म नहीं हो गई, जिसमें हजारों लोग मरे और घायल हुए।इस हत्याकांड के बाद पूरे पंजाब में मार्शल लॉ लगा दिया गया और लोगों पर अत्यंत जंगली किस्म के अत्याचार किए गए (चंद्र,2018,पृ.283)।

इस हत्याकांड ने पूरे देश को झकझोर दिया। पहले जहाँ कुछ भारतीय अंग्रेजों से सुधार की आशा रखते थे,वे इस घटना के बाद उनके मन से ब्रिटिश शासन के प्रति सारी सहानुभूति समाप्त हो गई। राष्ट्रभर में अंग्रेजी शासन के प्रति तीव्र रोष फैल गया। महात्मा गांधी, जो उस समय तक सीमित स्तर पर राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय थे,इस घटना से गहराई से प्रभावित हुए और उन्होंने महसूस किया कि अंग्रेजी शासन से किसी प्रकार का सहयोग अन्याय को बढ़ावा देगा। भारतीय लोगो के प्रति अंग्रेजी हुकुमत के इस क्रूर व्यवहार ने आगे के आंदोलनों के लिए एक ईधन का काम किया।

**हंटर समिति प्रतिवेदन-**ब्रिटिश शासन द्वारा पंजाब राज्य की घटना से उत्पन्न भारतीय जनता के क्रोध को शांत करने के लिए एवं गांधी द्वारा दोषी अपराधियों के विरुद्ध कार्यवाही की मांग को देखते हुए हंटर समिति नियुक्त की गई,इस समिति में लॉर्ड हंटर अध्यक्ष तथा कुछ अन्य सदस्य नियुक्त किए गए व इसका उद्देश्य जलियांवाला बाग घटना से संबंधित आरोपित व्यक्तियों की जांच करना था।लॉर्ड हंटर की अध्यक्षता में गठित

पांच सदस्यों की समिति द्वारा अपनी रिपोर्ट में दोषी अधिकारियों के कुकृत्यों को न्यायोचित ठहराया गया।जनरल डायर को दंड देने के स्थान पर उसके काले कारनामों को सही ठहराया गया तथा उनको गलत धारणा पर आधारित बताया गया।यही नहीं,ब्रिटिश लार्ड सभा ने जनरल डायर को ब्रिटिश साम्राज्य का शेर कहा तथा उसके समर्थकों ने उसे एक चांदी की तलवार और 20 हजार पौंड की एक थैली भेंट की(अग्रवाल,2014,पृ.115)।

यह सब कुछ भारतीयों को चिढ़ाने जैसा था वास्तव में जलियांवाला बाग की नरसंहार और हंटर समिति के प्रतिवेदन ने भारतीय जनता के विश्वास को चूर-चूर कर दिया।अब भारतीय जनता में ब्रिटिश हुकूमत के प्रति न्याय को लेकर तनिक-मात्र भी विश्वास नहीं रह गया था।यही अविश्वास और असंतोष आगे चलकर असहयोग आंदोलन के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

**खिलाफत आंदोलन-**खिलाफत आंदोलन,मुस्लिम समुदाय द्वारा उस्मानी खलीफा की सत्ता को बनाए रखने और तुर्की के साथ ब्रिटिश अन्याय के विरोध में चलाया गया एक धार्मिक-राजनीतिक आंदोलन था। इसके प्रमुख नेता मौलाना मोहम्मद अली, शौकत अली, और मौलाना अबुल कलाम आज़ाद थे।

महात्मा गांधी ने हिंदू-मुस्लिम एकता को मजबूत करने के उद्देश्य से खिलाफत आंदोलन का समर्थन किया और इसे राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष से जोड़ दिया। यही कारण था कि गांधीजी ने 1920 में असहयोग आंदोलन की घोषणा की,जिसमें लोगों से ब्रिटिश शासन के विरुद्ध अहिंसक असहयोग करने का आह्वान किया गया।

दिल्ली में नवंबर,1919 में आयोजित अखिल भारतीय खिलाफ़त सम्मेलन ने फैसला किया कि अगर उनकी मांगें न मानी गईं तो वे सरकार से सहयोग करना बंद कर देंगे। इस समय मुस्लिम लीग पर राष्ट्रवादियों का नेतृत्व था। उसने राजनीतिक प्रश्नों पर राष्ट्रीय कांग्रेस और उसके आंदोलन का पूरा-पूरा समर्थन किया। अपनी तरफ से लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी समेत तमाम कांग्रेसी नेताओं ने भी ख़िलाफ़त आंदोलन को हिंदू-मुसलमान एकता स्थापित करने का मुसलमान जनता को राष्ट्रीय आंदोलन में लाने का सुनहरा अवसर जाना। वे समझते थे कि हिंदू और मुसलमान, सिख और ईसाई, पूंजीपति और मज़दूर, किसान और दस्तकार, महिलाएं और युवक, विभिन्न क्षेत्रों के आदिवासी तथा अन्य लोग, अर्थात भारतीय जनता के सभी अंग, अपनी विभिन्न मांगों के लिए संघर्ष करते हुए उसके अनुभव के द्वारा तथा विदेशी शासन को अपना विरोधी समझने के बाद ही राष्ट्रीय आंदोलन में आएंगे। गांधीजी ने ख़िलाफ़त आंदोलन को 'हिंदुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने का ऐसा अवसर जाना जो कि आगे सौ वर्षों तक नहीं मिलेगा(चंद्र,2018,पृ.285)।

खिलाफत आंदोलन के कारण बड़ी संख्या में मुसलमान असहयोग आंदोलन से जुड़े। स्कूलों, अदालतों, और सरकारी नौकरियों का बहिष्कार किया गया। इसमें असहयोग आंदोलन को अभूतपूर्व जनसमर्थन मिला और स्वतंत्रता संघर्ष में यह एक व्यापक जनांदोलन बना ।

**असहयोग प्रस्ताव का स्वरूप**

मई,1920 में खिलाफत कमेटी ने ब्रिटिश सरकार के साथ कई स्तर पर असहयोग और बहिष्कार का प्रस्ताव पारित किया। इसका अनुमोदन कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने जून,1920 में कर दिया।इस बैठक में यह तय हो गया था कि 1अगस्त,1920 से असहयोग आंदोलन प्रारंभ होगा। असहयोग के मुद्दे को लेकर तो कांग्रेस में आम सहमति थी लेकिन विधानसभा के चुनाव के बहिष्कार को लेकर कुछ मतभेद था।आगे चलकर कोलकाता के विशेष अधिवेशन में सी.आर.दास,एनी बेसेंट बिपिन चंद्रपाल,मदन मोहन मालवीय जैसे कांग्रेस के दिग्गज नेताओं ने गांधी के असहयोग प्रस्ताव का विरोध किया लेकिन प्रस्ताव के पक्ष में 1886 तथा विरुद्ध में 884 मत ही पड़े जिससे असहयोग प्रस्ताव पारित हो गया।इसमें सात तरह के बहिष्कार का प्रस्ताव था, जो इस प्रकार थे-

1. सरकारी पद और अवैतनिक पदों का बहिष्कार
2. सरकारी बैठकों और कार्यक्रमों का बहिष्कार
3. सरकारी स्कूल और कालेज का बहिष्कार
4. कोर्ट-कचहरी का बहिष्कार
5. मेसोपोटामिया में प्रस्तावित नौकरी का बहिष्कार
6. विधायिका सभाओं का बहिष्कार तथा उनके मतदान का भी
7. विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार (प्रधान, 2017, पृ. 230-31)

तथा रचनात्मक कार्यक्रम में कहा गया कि कांग्रेस बहिष्कार के साथ-साथ कुछ क्षेत्रों के लिए वैकल्पिक व्यवस्था भी तैयार करने की कोशिश करेगी जिसमें,

1. राष्ट्रीय स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना करना
2. व्यापक पैमाने पर स्वदेशी वस्तुओं का प्रचार करना
3. सरकारी न्यायालयों के स्थान पर गैर-सरकारी पंचायती न्यायालयों की स्थापना
4. घर-घर में चरखे, हथकरघा और बुनाई का प्रचार करना
5. अस्पृश्यता निवारण हेतु प्रचार करना
6. हिन्दू-मुस्लिम एकता को सुदृढ़ करना (अग्रवाल, 2014, पृ.118)

असहयोग व बहिष्कार के माध्यम से देश के सभी क्षेत्र,वर्ग,जाति व धर्म के लोगो ने ने असहयोग आंदोलन को अपार जन-समर्थन दिया।

**असहयोग आंदोलन मे महिलाओं का योगदान**

यह आंदोलन भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण चरण साबित हुआ, जिसमें महिलाओं की भूमिका अत्यंत प्रेरणादायक और प्रभावशाली रही। महिलाओं ने न केवल आंदोलन में सक्रिय भाग लिया बल्कि उसे नई दिशा और शक्ति भी प्रदान की।सन् 1920-22 में जब असहयोग आंदोलन आरंभ हुआ तो पहली बार महिलाएं भारी संख्या में आंदोलन से जुड़ी।सैकड़ो महिलाएं खादी और चरखे बेचने गली-गली गई,उन्होंने खादी को लोकप्रिय बनाने के लिए जुलूस निकाले और समूहों में विदेशी कपड़ों की होली जलाई।1921 में कांग्रेस सम्मेलन में 144 महिला प्रतिनिधियों ने भाग लिया।इसमें 131 महिला स्वैच्छिक कार्यकर्ता और 14 विभिन्न समितियों में थी।कांग्रेस की कार्यकारिणी में महिलाओं की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही थी(सुमन,2018)।

महिलाओं ने विदेशी वस्त्रों,शराब,अफीम और नशीली वस्तुओं की दुकानों के सामने धरने देकर स्वदेशी वस्त्रों और उत्पादों के उपयोग को बढ़ावा दिया। अनेक महिलाओं ने सभाओं, जुलूसों और प्रदर्शनों में भाग लेकर आंदोलन को व्यापक जनसमर्थन दिलाया।इसके साथ ही महिलाओं ने समाज में फैली कुरीतियों जैसे बाल विवाह, नशाखोरी और असमानता के विरुद्ध आवाज उठाई तथा सामाजिक सुधारों को प्रोत्साहित किया। इस दौर में अनेक महिला संगठनों का गठन हुआ, जिन्होंने महिलाओं को राजनीतिक और सामाजिक रूप से सशक्त बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सरोजिनी नायडू ने अपने नेतृत्व और कार्यो से महिलाओं को स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के लिए प्रेरित किया, वहीं कस्तूरबा गांधी ने गांधीजी के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करते हुए ग्रामीण महिलाओं को संगठित किया और असहयोग आंदोलन को मजबूत बनाया। इस प्रकार असहयोग आंदोलन में महिलाओं की भूमिका केवल सहायक की नहीं बल्कि केंद्रीय रही। उनके साहस, त्याग और नेतृत्व ने न केवल आंदोलन को नई ऊर्जा प्रदान की, बल्कि भारतीय समाज में महिलाओं की राजनीतिक चेतना को भी जागृत किया।

**असहयोग आंदोलन का भविष्य के आंदोलनों पर प्रभाव**

असहयोग आंदोलन, जिसे महात्मा गांधीजी के दूरदर्शी नेतृत्व में शुरू किया गया, भारत की स्वतंत्रता की यात्रा का एक निर्णायक अध्याय था । इसने जनसंगठन और अहिंसक प्रतिरोध की शक्ति को प्रदर्शित किया, जिससे भारतीय जनमानस और राजनीतिक परिदृश्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। समाज के विभिन्न वर्गों को एकजुट करके और राष्ट्रीय पहचान की भावना को सशक्त बनाकर, इस आंदोलन ने भारत की (अंततः मिलने वाली) स्वतंत्रता की नींव रखी और महात्मा गांधी को भारतीय इतिहास में एक प्रमुख व्यक्तित्व के रूप में स्थापित किया।

आंदोलन का उद्देश्य ब्रिटिश शासन का विरोध अहिंसक और शांतिपूर्ण तरीकों से करना था। गांधीजी ने लोगों से विदेशी वस्त्र, सरकारी विद्यालयों, न्यायालयों और कार्यालयों का बहिष्कार करने का आहवान किया। यद्यपि 1922 में चौरी-चौरा घटना के बाद यह आंदोलन वापस ले लिया गया, फिर भी इसका भारत के राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर गहरा और स्थायी प्रभाव पड़ा।

असहयोग आंदोलन का सबसे बड़ा प्रभाव भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना का जागरण था। पहली बार देश के कोने-कोने से करोड़ों किसान, मजदूर, विद्यार्थी और महिलाएँ स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय रूप से शामिल हुए। इस जनभागीदारी ने आंदोलन को जन आंदोलन का स्वरूप दिया, असहयोग आंदोलन ने पहली बार भारतीय जनता को यह विश्वास दिलाया कि अंग्रेजी शासन का अंत संभव है। गांधीजी के नेतृत्व में अहिंसक प्रतिरोध की नीति ने करोड़ों भारतीयों को राजनीतिक प्रक्रिया से जोड़ा। गाँव-गाँव तक राष्ट्रीयता की भावना फैल गई। यह राष्ट्रीय चेतना आगे चलकर सविनय अवज्ञा आंदोलन (1930) और भारत छोड़ो आंदोलन (1942) की आधारशिला बनी।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव यह था कि इस आंदोलन ने अहिंसा और सविनय अवज्ञा के सिद्धांत को प्रभावशाली संघर्ष के रूप में स्थापित किया। गांधीजी की इस नीति ने आगे के सभी आंदोलनों को प्रेरित किया और यह सिद्ध कर दिया कि संगठित, शांतिपूर्ण विरोध से भी साम्राज्य को चुनौती दी जा सकती है। ब्रिटिश वस्तुओं और संस्थानों के बहिष्कार की रणनीति को बाद के आंदोलनों में भी अपनाया गया, जिससे स्वदेशी और आत्मनिर्भरता की भावना मजबूत हुई, आगे चलकर सविनय अवज्ञा आंदोलन (दांडी यात्रा ) और भारत छोड़ो आंदोलन में इसी अहिंसक नीति का सफल प्रयोग किया गया।

इस आंदोलन के दौरान विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार और स्वदेशी वस्त्रों (खादी) के प्रयोग ने आर्थिक राष्ट्रवाद को जन्म दिया। यह भावना आगे के दशकों में स्वदेशी आंदोलन, हरिजन आंदोलन और ग्रामोद्योग कार्यक्रमों का प्रेरणास्रोत बनी। स्वदेशी विचारधारा ने स्वतंत्र भारत की आर्थिक नीतियों विशेषतः आत्मनिर्भरता और ग्रामीण विकास को प्रभावित किया।

राजनीतिक दृष्टि से असहयोग आंदोलन ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को एक जनदलीय संगठन के रूप में स्थापित किया। इसी दौर में जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल और सुभाष चंद्र बोस, मौलाना आजाद आदि जैसे नेता उभरे, बाद के सभी प्रमुख आंदोलनों सविनय अवज्ञा, भारत छोड़ो आंदोलन आदि में इसी संगठनात्मक अनुभव ने निर्णायक भूमिका निभाई।

सामाजिक दृष्टि से, आंदोलन ने भारतीयों में अपनी संस्कृति, भाषा और विरासत के प्रति गर्व की भावना जगाई। इसने जाति, धर्म और क्षेत्रीय भेदभाव से ऊपर उठकर एकता की भावना को मजबूत किया। यही एकता आगे के स्वतंत्रता संघर्ष की मुख्य शक्ति बनी । यद्यपि बाद में यह एकता कुछ हद तक कमजोर पड़ी, परंतु उस समय इसने एक साझा राष्ट्रीय मंच तैयार किया। यह अनुभव भविष्य के नेताओं के लिए साम्प्रदायिक सौहार्द की महत्ता का स्मरण बना रहा।

अंत में कहा जा सकता है कि यद्यपि असहयोग आंदोलन तत्काल राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सका, परंतु इसने भारत के स्वतंत्रता संग्राम की दिशा बदल दी। इसने भविष्य के आंदोलनों के लिए आधार तैयार किया और अहिंसा, आत्मनिर्भरता व एकता के सिद्धांतों को भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष की आत्मा बना दिया ।

**संदर्भ ग्रंथ सूची:-**


1. प्रधान, रामचंद्र, 2017, राज से स्वराज,प्रभात पेपरबैक्स,नई दिल्ली,पृ.सं.(230)
2. अग्रवाल, आर.सी., 2014, भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आंदोलन, एस. चंद एंड कंपनी प्रा. लि., नई दिल्ली,पृ.सं.(115)
3. अग्रवाल, आर.सी., 2014, भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आंदोलन, एस. चंद एंड कंपनी प्रा. लि., नई दिल्ली,पृ.सं.(115)
4. बंदोपाध्याय, शेखर, 2017, प्लासी से विभाजन तक और उसके बाद, ओरिएंट ब्लैकस्वान प्रा.लि., हैदराबाद, पृ.सं.(293)
5. चंद्र,विपिन, 2018, आधुनिक भारत का इतिहास,ओरियंट ब्लैकस्वान प्रा.लि.हैदराबाद,पृ.सं.(283)
6. अग्रवाल, आर.सी., 2014, भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आंदोलन, एस.चंद.एंड कंपनी प्रा. लि., नई दिल्ली, पृ.सं.(116-17)
7. चंद्र,विपिन, 2018, आधुनिक भारत का इतिहास,ओरियंट ब्लैकस्वान प्रा.लि.हैदराबाद,पृ.सं.(285)
8. प्रधान, रामचंद्र, 2017, राज से स्वराज, प्रभात पेपरबैक्स,नई दिल्ली,पृ.सं.(230-31)
9. अग्रवाल, आर.सी., 2014, भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आंदोलन, एस. चंद एंड कंपनी प्रा. लि., नई दिल्ली,पृ.सं.(118)
10. सुमन, 2018, महात्मा गांधी के आंदोलन में महिलाओं की भूमिका, इंटरनेशनल जर्नल आफ क्रिएटिव रिसर्च थॉट https://www.ijcrt.org/papers/IJCRT1801382.pdf
11. https://www.google.com/url?sa=t&source=web&rct=j&opi=89978449&url=https://www.britannica.com/event/noncooperation-movement&ved=2ahUKEwjao-TknuyQAxVwQ2cHHaEgJYUQFnoECFUQAQ&sqi=2&usg=AOvVaw2iGFr_PqXyNGkOwS2PEuuq
12. https://www.google.com/url?sa=t&source=web&rct=j&opi=89978449&url=https://newmancollege.ac.in/wp-content/uploads/2022/07/NON-COOPERATION-MOVEMENT.pdf&ved=2ahUKEwjao-TknuyQAxVwQ2cHHaEgJYUQFnoFCIIBEAE&sqi=2&usg=AOvVaw1fOGORES-_7MRLt2rnowqC
13. https://www.google.com/url?sa=t&source=web&rct=j&opi=89978449&url=https://www.drishtiias.com/mains-practice-question/question-8225&ved=2ahUKEwjao-TknuyQAxVwQ2cHHaEgJYUQFnoFCKsBEAE&sqi=2&usg=AOvVaw300bx07SZWNX41xj0ZjgYc
14. https://www.jstor.org/stable/3520212
15. https://www.jstor.org/stable/27131151

# वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा का बहुआयामी विश्लेषणः मनःस्वास्थ्य, सामाजिक सहभागिता एवं आर्थिक स्वतंत्रता के परिप्रेक्ष्य में

**अनिता कुमारी***
**डॉ. रामदेव प्रसाद****

**सार-**

*यह अध्ययन गया जिला (बिहार) की ग्रामीण एवं शहरी वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन का उद्देश्य यह जानना है कि वृद्ध महिलाओं के मनःस्वास्थ्य, सामाजिक सहभागिता एवं आर्थिक स्वतंत्रता का उनके आत्म–अवधारणा पर क्या प्रभाव पड़ता है। कुल 200 प्रतिभागियों (100 ग्रामीण एवं 100 शहरी वृद्ध महिलाएँ) से प्रश्नावली के माध्यम से आँकड़े संकलित किए गए। परिणामों से स्पष्ट हुआ कि शहरी वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा तुलनात्मक रूप से अधिक सकारात्मक पाई गई, जबकि ग्रामीण वृद्ध महिलाओं में सामाजिक निर्भरता एवं आर्थिक सीमाओं के कारण आत्म–अवधारणा अपेक्षाकृत निम्न रही। मनःस्वास्थ्य और आर्थिक स्वतंत्रता दोनों ही आत्म–अवधारणा के प्रमुख भविष्यवक्ता (predictors) के रूप में उभरे। यह अध्ययन वृद्ध महिलाओं की मानसिक सशक्तिकरण और सामाजिक नीति–निर्माण के लिए महत्वपूर्ण संकेत प्रस्तुत करता है।*

**मुख्य शब्द–** *वृद्ध महिलाएँ, आत्म–अवधारणा, मनःस्वास्थ्य, सामाजिक सहभागिता, आर्थिक स्वतंत्रता, ग्रामीण–शहरी तुलना, मनोवैज्ञानिक अध्ययन।*

भारत में वृद्धावस्था जनसंख्या का अनुपात तेजी से बढ़ रहा है। विशेष रूप से महिलाओं में जीवन प्रत्याशा अधिक होने के कारण वृद्ध महिलाओं की संख्या निरंतर बढ़ रही है। वृद्ध महिलाओं को न केवल जैविक और शारीरिक परिवर्तन का सामना करना पड़ता है, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक चुनौतियों का भी सामना करना पड़ता है।

1951 में भारत में 60 वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्तियों का प्रतिशत केवल 5.5 था, जो 2021 की जनगणना के अनुसार लगभग 10.2 प्रतिशत तक पहुँच गया। इनमें महिलाओं की संख्या पुरुषों की अपेक्षा अधिक है, क्योंकि महिलाओं की औसत जीवन प्रत्याशा अधिक होती है। वृद्ध महिलाओं की यह बढ़ती जनसंख्या आज सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक महत्वपूर्ण विमर्श का विषय बन गई है।

वृद्धावस्था मानव जीवन का एक स्वाभाविक और अपरिहार्य चरण है, जिसमें व्यक्ति अनेक प्रकार के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तनों से गुजरता है। देव, पी., और पुरोहित, डी. (1985) ने यह बताया कि वह अवस्था है जब व्यक्ति के जीवन में आश्रितता बढ़ती है, सामाजिक भूमिकाएँ परिवर्तित होती हैं और पारिवारिक संरचना में भी उसके स्थान का पुनःनिर्धारण होता है।[1] विशेष रूप से वृद्ध महिलाओं के संदर्भ में यह चरण कई गुना अधिक चुनौतीपूर्ण होता है, क्योंकि भारतीय समाज में महिलाओं की पारंपरिक भूमिका परिवार–केंद्रित रही है। जैसे–जैसे उम्र बढ़ती है, वैसे–वैसे महिलाओं की उपयोगिता को लेकर समाज और परिवार में धारणा बदलने लगती है, जिससे उनके आत्म–सम्मान और आत्म–अवधारणा पर सीधा प्रभाव पड़ता है।

आत्म–अवधारणा वह मानसिक ढाँचा है जिसके माध्यम से व्यक्ति स्वयं को समझता है, अपनी क्षमताओं, सीमाओं और सामाजिक पहचान का मूल्यांकन करता है। जेम्स (1890) के अनुसार, आत्म–अवधारणा व्यक्ति के "I" और "Me" के समन्वय से निर्मित होती है– अर्थात व्यक्ति स्वयं को किस रूप में देखता है और अन्य लोग उसे कैसे देखते हैं। वृद्ध महिलाओं के संदर्भ में यह आत्म–अवधारणा कई कारकों से प्रभावित होती है– जैसे उनका मानसिक स्वास्थ्य, पारिवारिक समर्थन, आर्थिक स्थिति, सामाजिक सहभागिता और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि।

वृद्ध महिलाओं की मनोवैज्ञानिक स्थिति को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वृद्धावस्था में उनकी भूमिका, जिम्मेदारियाँ और सामाजिक संबंधों में क्या परिवर्तन आते हैं। सेवानिवृत्ति, पति या परिवार के

* शोध छात्रा, मनोविज्ञान विभाग,मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
** वरीय सहायक प्रोफेसर, मनोविज्ञान विभाग, गया कॉलेज, गया

सदस्य की मृत्यु, बच्चों के अलग हो जाने और शारीरिक दुर्बलता के कारण उनमें अक्सर अकेलेपन, निराशा, अवसाद और हीनभावना की प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। ये सभी कारक उनकी आत्म–अवधारणा को कमजोर करते हैं। दूसरी ओर, जिन महिलाओं को परिवार का सहयोग, आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक सम्मान प्राप्त होता है, उनमें आत्म–अवधारणा अधिक सकारात्मक पाई जाती है।

**मनःस्वास्थ्य–** आत्म–अवधारणा का एक प्रमुख आयाम है। मानसिक रूप से स्वस्थ व्यक्ति अपनी सीमाओं और संभावनाओं को वास्तविकता में स्वीकार कर संतुलित जीवन जीता है। वृद्ध महिलाओं में यदि मानसिक स्वास्थ्य स्थिर रहता है तो वे अपने जीवन के इस चरण को स्वीकार कर सकारात्मक दृष्टिकोण से आगे बढ़ सकती हैं। परंतु जब मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ता है, तब वे स्वयं को समाज के लिए बोझ समझने लगती हैं। इसलिए मानसिक स्वास्थ्य और आत्म–अवधारणा का संबंध अत्यंत निकट और परस्पर आश्रित है।

**सामाजिक सहभागिता**– वृद्ध महिलाओं के जीवन में आत्मसम्मान और उद्देश्य की भावना बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जो महिलाएँ सामाजिक, धार्मिक, या सामुदायिक गतिविधियों में भाग लेती हैं, वे स्वयं को अधिक उपयोगी और सम्मानित महसूस करती हैं। सामाजिक अलगाव या निष्क्रियता आत्म–अवधारणा को क्षीण करती है और मानसिक अवसाद को जन्म देती है। जगदीश और श्रीवास्तव, ए. के. (1983), ने आधुनिक शहरी समाजों में वृद्ध महिलाओं के लिए कुछ सामाजिक मंच (जैसे महिला मंडल, वरिष्ठ नागरिक क्लब) उपलब्ध हैं, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसी संस्थाएँ या अवसर सीमित हैं। यही अंतर आत्म–अवधारणा में क्षेत्रीय भिन्नता का कारण बनता है। तीसरा प्रमुख आयाम है आर्थिक स्वतंत्रता। आर्थिक रूप से स्वतंत्र वृद्ध महिलाएँ अपने निर्णय स्वयं ले सकती हैं, दूसरों पर निर्भर नहीं रहतीं और समाज में उनकी आवाज सुनी जाती है। पारंपरिक भारतीय परिवारों में वृद्ध महिलाओं की आर्थिक भूमिका प्रायः सीमित रही है– वे अक्सर पेंशन, पति की आय, या बच्चों के सहयोग पर निर्भर रहती हैं। यह निर्भरता आत्म–अवधारणा को कमजोर करती है।[2] वहीं जो महिलाएँ स्वयं की आय अर्जित करती हैं, बचत रखती हैं या किसी उत्पादनशील कार्य से जुड़ी हैं, उनमें आत्मविश्वास और आत्म–मूल्यबोध अधिक पाया जाता है।

गया जिला (बिहार) जैसे क्षेत्र इस अध्ययन के लिए अत्यंत उपयुक्त हैं, क्योंकि यहाँ ग्रामीण और शहरी दोनों प्रकार की सामाजिक संरचनाएँ विद्यमान हैं। गया जिले के ग्रामीण क्षेत्रों में पारंपरिक परिवार व्यवस्था, सीमित शिक्षा, और आर्थिक निर्भरता के कारण वृद्ध महिलाओं की स्थिति अपेक्षाकृत कमजोर है। इसके विपरीत, शहरी क्षेत्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं और सामाजिक मंचों की उपलब्धता अपेक्षाकृत अधिक है, जिससे वहाँ की वृद्ध महिलाओं में आत्म–अवधारणा का स्तर भी ऊँचा पाया जाता है।

यह अध्ययन इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा पर केंद्रित अधिकांश शोध शहरी संदर्भों तक सीमित रहे हैं, जबकि ग्रामीण परिवेश में यह विषय अभी भी उपेक्षित है। बिहार जैसे समाज में, जहाँ पितृसत्तात्मक मूल्य गहराई से जड़े हुए हैं, वहाँ वृद्ध महिलाओं की मानसिक स्थिति और आत्म–अवधारणा को समझना सामाजिक न्याय और नारी–सशक्तिकरण दोनों के लिए आवश्यक है।

वर्तमान अध्ययन में वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा को तीन आयामों– मनःस्वास्थ्य, सामाजिक सहभागिता, और आर्थिक स्वतंत्रता– के माध्यम से विश्लेषित किया गया है। यह शोध न केवल इन कारकों के बीच संबंध को स्पष्ट करता है, बल्कि यह भी दिखाता है कि कैसे इन आयामों का संतुलन वृद्ध महिलाओं के जीवन की गुणवत्ता को प्रभावित करता है।

**वृद्धावस्था में आत्म–अवधारणा**– व्यक्ति के जीवन के अनुभवों, सामाजिक संबंधों, और आर्थिक स्थिति से गहराई से जुड़ी होती है। जब कोई महिला आर्थिक रूप से स्वतंत्र होती है, समाज में सक्रिय भागीदारी करती है और उसका मनःस्वास्थ्य संतुलित होता है, तब उसकी आत्म–अवधारणा भी सकारात्मक बनी रहती है।

ग्रामीण परिवेश में वृद्ध महिलाओं की भूमिका अधिक पारंपरिक और आश्रित होती है, जबकि शहरी क्षेत्रों में महिलाएँ अपेक्षाकृत अधिक स्वायत्तता प्राप्त करती हैं। इस पृष्ठभूमि में गया जिले का चयन इसलिए किया गया है क्योंकि यहाँ ग्रामीण और शहरी दोनों ही सामाजिक ढाँचे स्पष्ट रूप से उपस्थित हैं, जो तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपयुक्त है।

**अध्ययन प्रश्न–**

क. क्या ग्रामीण और शहरी वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा में कोई सार्थक अंतर पाया जाता है?

ख. क्या मनःस्वास्थ्य का वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा पर प्रभाव पड़ता है?

ग. क्या सामाजिक सहभागिता आत्म–अवधारणा को प्रभावित करती है?

घ. क्या आर्थिक स्वतंत्रता वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा का एक महत्वपूर्ण निर्धारक है?

इन तीनों कारकों (मनःस्वास्थ्य, सामाजिक सहभागिता, आर्थिक स्वतंत्रता) का संयुक्त प्रभाव आत्म–अवधारणा पर कैसा है?

आत्म–अवधारणा और वृद्धावस्था पर विलियम जेम्स (1890) ने आत्म–अवधारणा को "व्यक्ति द्वारा स्वयं के प्रति निर्मित छवि" के रूप में परिभाषित किया। वृद्धावस्था में यह छवि बदलती सामाजिक भूमिकाओं और शारीरिक सीमाओं से प्रभावित होती है। कई अध्ययनों (जैसे शर्मा, 2015, सिंह, 2018) ने पाया कि सकारात्मक आत्म–अवधारणा जीवन–संतोष और मानसिक स्वास्थ्य दोनों को बढ़ाती है।[3, 4]

मनःस्वास्थ्य और आत्म–अवधारणा का संबंध पर गुप्ता (2016) के अनुसार वृद्ध महिलाओं में अवसाद, चिंता और अकेलेपन की भावना प्रबल होती है, जो आत्म–अवधारणा को कमजोर बनाती है। वहीं, नियमित सामाजिक सहभागिता और मानसिक सक्रियता सकारात्मक आत्म–अवधारणा को बनाए रखती है।[5]

सामाजिक सहभागिता पर कौशल (2017) के अध्ययन में पाया गया कि जिन वृद्ध महिलाओं की सामुदायिक गतिविधियों में भागीदारी होती है, वे अधिक आत्म–सम्मान और जीवन संतोष महसूस करती हैं। सामाजिक अलगाव आत्म–अवधारणा को क्षीण करता है।[6]

आर्थिक स्वतंत्रता पर देवी एवं मिश्रा (2019) ने बिहार राज्य की वृद्ध महिलाओं पर किए गए अध्ययन में पाया कि आर्थिक स्वावलंबन आत्म–अवधारणा का सबसे प्रभावी घटक है। जो महिलाएँ स्वयं की आय अर्जित करती हैं या किसी आर्थिक कार्य में संलग्न रहती हैं, उनमें आत्म–मूल्यबोध अधिक होता है।[7]

ग्रामीण–शहरी तुलनापर चौधरी (2020) के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला कि शहरी वृद्ध महिलाएँ शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाओं और सामाजिक अवसरों के कारण अधिक आत्मविश्वासी होती हैं, जबकि ग्रामीण वृद्ध महिलाएँ परिवारिक निर्भरता के कारण आत्म–अवधारणा में सीमितता अनुभव करती हैं।[8]

इस शोध की प्रासंगिकता इस तथ्य में निहित है कि आज जब भारत "जनसांख्यिकीय संक्रमण" के दौर से गुजर रहा है, तब वृद्ध महिलाओं की भलाई के प्रश्न केवल पारिवारिक नहीं, बल्कि राष्ट्रीय विकास की प्राथमिकताओं में शामिल किए जाने चाहिए। आत्म–अवधारणा का सकारात्मक विकास वृद्ध महिलाओं को न केवल मानसिक रूप से सशक्त बनाता है, बल्कि उन्हें समाज के उत्पादक अंग के रूप में पुनःस्थापित करता है।

इस प्रकार, यह अध्ययन वृद्ध महिलाओं के मनोवैज्ञानिक सशक्तिकरण की दिशा में एक प्रयास है, जो यह समझने की कोशिश करता है कि किन सामाजिक, मानसिक और आर्थिक परिस्थितियों में वृद्ध महिलाएँ स्वयं को "सार्थक" और "आत्मनिर्भर" महसूस करती हैं। अध्ययन का निष्कर्ष नीति–निर्माताओं, मनोवैज्ञानिकों और समाजसेवियों के लिए उपयोगी दिशानिर्देश प्रदान कर सकता है, ताकि वृद्ध महिलाओं की जीवन गुणवत्ता में वास्तविक सुधार लाया जा सके (हेल्पएज इंडिया (2021)।[9]

**अध्ययन का उद्देश्य–**

वर्तमान अध्ययन का मुख्य उद्देश्य गया जिला, बिहार की ग्रामीण एवं शहरी वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा का बहुआयामी विश्लेषण करना है, जिसमें उनके मनःस्वास्थ्य, सामाजिक सहभागिता और आर्थिक स्वतंत्रता जैसे प्रमुख मनो–सामाजिक घटकों की भूमिका का मूल्यांकन किया गया है।

इस शोध के विशिष्ट उद्देश्यों को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता हैः–

1. वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा का स्तर ज्ञात करना। यह पता लगाना कि वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा (Self-Concept) किस स्तर की है उच्च, मध्यम या निम्न।
2. ग्रामीण एवं शहरी वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा की तुलना करना। यह विश्लेषण करना कि क्या ग्रामीण और शहरी परिवेश में रहने वाली वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा में कोई सार्थक अंतर पाया जाता है।
3. वृद्ध महिलाओं के मनःस्वास्थ्य का आत्म–अवधारणा पर प्रभाव अध्ययन करना। यह जानना कि मानसिक स्वास्थ्य की स्थिति (अवसाद, आत्म–संतुलन, आत्म–संतोष) आत्म–अवधारणा को किस प्रकार प्रभावित करती है।
4. सामाजिक सहभागिता एवं आत्म–अवधारणा के मध्य संबंध का अध्ययन करना। यह मूल्यांकन करना कि वृद्ध महिलाओं की सामाजिक भागीदारी, पारिवारिक संबंध और सामाजिक समर्थन उनके आत्म–सम्मान एवं आत्म–धारणा को किस हद तक प्रभावित करते हैं।

5. आर्थिक स्वतंत्रता एवं आत्म–अवधारणा के संबंध को स्पष्ट करना। यह निर्धारित करना कि आर्थिक रूप से स्वतंत्र या आश्रित होने की स्थिति वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा में क्या अंतर उत्पन्न करती है।
6. तीनों कारकों (मनःस्वास्थ्य, सामाजिक सहभागिता और आर्थिक स्वतंत्रता) का संयुक्त प्रभाव ज्ञात करना। यह अध्ययन करना कि ये तीनों आयाम मिलकर वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा को किस सीमा तक प्रभावित करते हैं।
7. नीतिगत एवं व्यवहारिक सुझाव प्रदान करना। अध्ययन के निष्कर्षों के आधार पर वृद्ध महिलाओं के मानसिक सशक्तिकरण, सामाजिक सहभागिता और आर्थिक आत्मनिर्भरता के लिए व्यावहारिक सुझाव प्रस्तुत करना।

**परिकल्पना–**

1. ग्रामीण एवं शहरी वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा में सार्थक अंतर पाया जाएगा।
2. मनःस्वास्थ्य वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालेगा।
3. सामाजिक सहभागिता का आत्म–अवधारणा पर सकारात्मक प्रभाव होगा।
4. आर्थिक स्वतंत्रता वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा को बढ़ाने में सहायक होगी।
5. मनःस्वास्थ्य, सामाजिक सहभागिता एवं आर्थिक स्वतंत्रता संयुक्त रूप से आत्म–अवधारणा के महत्वपूर्ण भविष्यवक्ता होंगे।

**शोध पद्धति–**

**अ. अनुसंधान की प्रकृति–** यह अध्ययन वर्णनात्मक एवं सहसंबंधात्मक स्वरूप का है। इसमें मात्रात्मक डेटा एकत्र किया गया है।

**ब. नमूना–** अध्ययन के लिए गया जिला, बिहार की 200 वृद्ध महिलाओं का चयन किया गया, जो कि 100 ग्रामीण क्षेत्र से और 100 शहरी क्षेत्र से आकस्मिक नमूना विधि से किया गया। इसमें प्रतिभागियों की आयु 60 वर्ष या उससे अधिक थी।

**3. उपकरणः–** अध्ययन में निम्नलिखित मनोवैज्ञानिक मापन उपकरणों का उपयोग किया गया–

(1) आत्म–अवधारणा मापन पैमाना (Self-Concept Scale)– देओ एवं पुरोहित (1985) द्वारा विकसित।

(2) मनोस्वास्थ्य सूची (Mental Health Inventory)– जगदीश एवं श्रीवास्तव (1983)।

(3) सामाजिक सहभागिता प्रश्नावली– शोधकर्ता द्वारा निर्मित 20 प्रश्नों पर आधारित।

(4) आर्थिक स्वतंत्रता माप– मासिक आय, निर्णय–क्षमता और आर्थिक योगदान के तीन बिंदुओं पर आधारित स्केल।

**4. डेटा संग्रह–** शोधकर्ता ने दोनों क्षेत्रों (गया नगर एवं उसके आसपास के ग्रामीण क्षेत्रों में बोधगया, मानपुर, डोभी, टिकारी) में जाकर वृद्ध महिलाओं से प्रत्यक्ष साक्षात्कार एवं प्रश्नावली के माध्यम से जानकारी संकलित की।

**5. सांख्यिकीय तकनीकें–**

संग्रहित आँकड़ों का विश्लेषण करने के लिए Mean, SD, t-test का उपयोग किया गया।

**परिणाम–**

**(क)** ग्रामीण एवं शहरी वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा में अंतर– डेटा से ज्ञात हुआ कि शहरी वृद्ध महिलाओं का औसत आत्म–अवधारणा स्कोर ग्रामीण महिलाओं की अपेक्षा अधिक है, में सार्थक अंतर पाया जाएगा सारणी–1 में निरूपित किया जा रहा है और उसे t, द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है।

**सारणी–01**

**ग्रामीण एवं शहरी वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा में विभिन्नता के प्राप्तांकों की सार्थकता माध्य"**

| वृद्ध महिला समूह | संख्या | माध्य | प्रमाणिक विचलन | टी–अनुपात | सार्थकता का स्तर |
|---|---|---|---|---|---|
| **ग्रामीण** | 100 | 68.42 | 8.31 | 4.73 | p<0.01 |
| **शहरी** | 100 | 74.56 | 7.92 | | |

सारणी–01 में शहरी एवं ग्रामीण वृद्ध महिलाओं कि आत्म–अवधारणा का औसत स्कोर में सार्थक अंतर पाया गया ($t=4.73, df=198, p<0.01$)। समूहों की आत्म–अवधारणा में अंतर–डेटा से ज्ञात हुआ कि शहरी वृद्ध

महिलाओं का औसत आत्म–अवधारणा स्कोर ग्रामीण महिलाओं की अपेक्षा अधिक है। अतः प्राप्त परिणाम परिकल्पना सार्थकता को दर्शाती है। शहरी वृद्ध महिलाओं कि आत्म–अवधारणा का औसत स्कोर का माध्य 68.42 पाया गया जब कि ग्रामीण वृद्ध महिलाओं कि आत्म–अवधारणा का औसत स्कोर समुहों का माध्य 74. 56 पाया गया।

(ख) मनःस्वास्थ्य एवं आत्म–अवधारणा का संबंधः दोनों समूहों में मनःस्वास्थ्य एवं आत्म–अवधारणा के बीच उच्च सहसंबंध पाया गया ($r=.62, p<0.01$)। अर्थात जिन वृद्ध महिलाओं का मानसिक स्वास्थ्य बेहतर है, उनकी आत्म–अवधारणा भी अधिक सकारात्मक है।

(ग) सामाजिक सहभागिता एवं आत्म–अवधारणा का संबंधः सामाजिक सहभागिता एवं आत्म–अवधारणा के बीच मध्यम सकारात्मक सहसंबंध पाया गया ($r=.48, p<0.01$)। स्पष्ट है कि जो महिलाएँ सामाजिक रूप से सक्रिय हैं, उनमें आत्म–सम्मान और आत्मविश्वास उच्च पाया गया।

(घ) आर्थिक स्वतंत्रता एवं आत्म–अवधारणा का संबंधः आर्थिक स्वतंत्रता एवं आत्म–अवधारणा के बीच अत्यधिक सहसंबंध पाया गया ($r=.70, p<0.01$)। परिणाम यह इंगित करता है कि आर्थिक स्वावलंबन आत्म–अवधारणा का सबसे प्रमुख घटक है।

(ङ) बहु–प्रतिगमन विश्लेषणः तीनों स्वतंत्र चर (मनःस्वास्थ्य, सामाजिक सहभागिता, आर्थिक स्वतंत्रता) ने आत्म–अवधारणा के 62.00% विभेद को व्याख्यायित किया ($R^2=.62$)। इनमें सर्वाधिक योगदान आर्थिक स्वतंत्रता का ($\beta= .46$) पाया गया।

| चर | सहसंबंध (r) | योगदान (β) | निष्कर्ष |
|---|---|---|---|
| मनःस्वास्थ्य | 0.62 | 0.34 | सकारात्मक प्रभाव |
| सामाजिक सहभागिता | 0.48 | 0.27 | मध्यम प्रभाव |
| आर्थिक स्वतंत्रता | 0.70 | 0.46 | सर्वाधिक प्रभाव |
| संयुक्त प्रभाव | $R^2=0.62$ | —— | तीनों चर आत्म–अवधारणा के महत्वपूर्ण भविष्यवक्ता |

**चर्चा–** अध्ययन के निष्कर्षों से स्पष्ट होता है कि वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा उनके मानसिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन से गहराई से जुड़ी है। शहरी क्षेत्रों में रहने वाली महिलाएँ शिक्षित, सामाजिक रूप से सक्रिय एवं स्वास्थ्य के प्रति जागरूक हैं, जिससे उनकी आत्म–अवधारणा उच्च है। वहीं, ग्रामीण महिलाओं में पारंपरिक भूमिकाएँ, आर्थिक निर्भरता और सीमित सामाजिक सहभागिता आत्म–अवधारणा को सीमित करती हैं। हेल्पएज इंडिया (2021) आर्थिक स्वतंत्रता ने आत्म–अवधारणा पर सबसे अधिक प्रभाव दिखाया। यह दर्शाता है कि जब वृद्ध महिलाएँ आर्थिक रूप से सशक्त होती हैं, तो उनमें आत्मविश्वास, आत्म–सम्मान एवं जीवन संतोष की भावना बढ़ जाती है।[10]

मनःस्वास्थ्य भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, क्योंकि अवसाद, अकेलापन और तनाव आत्म–अवधारणा को नकारात्मक रूप से प्रभावित करते हैं।

सामाजिक सहभागिता वृद्ध महिलाओं को सामाजिक मान्यता, उपयोगिता और जुड़ाव की भावना प्रदान करती है, जो आत्म–अवधारणा को सकारात्मक दिशा में ले जाती है।

**निष्कर्ष–** शहरी वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा ग्रामीण महिलाओं की तुलना में अधिक सकारात्मक पाई गई। मनःस्वास्थ्य, सामाजिक सहभागिता और आर्थिक स्वतंत्रता तीनों का आत्म–अवधारणा पर महत्वपूर्ण प्रभाव है। आर्थिक स्वतंत्रता आत्म–अवधारणा का सबसे सशक्त निर्धारक कारक सिद्ध हुआ। मनःस्वास्थ्य और सामाजिक सहभागिता आत्म–अवधारणा के सहायक तत्व हैं। तीनों कारकों का संयुक्त प्रभाव वृद्ध महिलाओं की जीवन गुणवत्ता और आत्म–सम्मान को प्रभावित करता है।

**सिफारिशें–** सामाजिक नीति निर्माण द्वारा सरकार एवं स्थानीय निकायों को वृद्ध महिलाओं के लिए रोजगार, पेंशन एवं आत्म–निर्भरता कार्यक्रमों को बढ़ावा देना चाहिए। वहीं स्वास्थ्य सेवाएँ वृद्ध महिलाओं के लिए निरूशुल्क मानसिक स्वास्थ्य परामर्श केंद्रों की स्थापना की जानी चाहिए। सामाजिक भागीदारी जैसे सामुदायिक केंद्रों में वृद्ध महिलाओं के लिए समूह गतिविधियाँ, सांस्कृतिक कार्यक्रम एवं सामाजिक मंच बनाए जाने चाहिए। साथ ही परिवारिक जागरूकता से परिवार के सदस्यों को वृद्ध महिलाओं के प्रति सम्मान,

सहभागिता और संवाद को बढ़ावा देने की दिशा में शिक्षित किया जाए। भविष्य के शोध में आयु, शिक्षा, वैवाहिक स्थिति एवं सामाजिक समर्थन जैसे अन्य कारकों को भी शामिल किया जा सकता है।

**सीमाएँ–** नमूना केवल गया जिले तक सीमित था, अतः परिणामों का सामान्यीकरण सीमित है। वहीं आत्म–अवधारणा पर प्रभाव डालने वाले अन्य सांस्कृतिक एवं धार्मिक कारकों का विश्लेषण नहीं किया गया।

**सुझाव–** वर्तमान अध्ययन के निष्कर्षों से यह स्पष्ट होता है कि वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा उनके मनःस्वास्थ्य, सामाजिक सहभागिता और आर्थिक स्वतंत्रता पर प्रत्यक्ष रूप से निर्भर करती है। अतः उनके समग्र विकास और जीवन–संतोष के लिए निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

**मानसिक स्वास्थ्य सेवाओं का सुदृढ़ीकरण–** वृद्ध महिलाओं के लिए स्थानीय स्तर पर मनोवैज्ञानिक परामर्श केंद्र स्थापित किए जाएँ, जहाँ वे अपनी भावनात्मक समस्याएँ साझा कर सकें। प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों में मानसिक स्वास्थ्य परीक्षण एवं सपोर्ट ग्रुप्स की व्यवस्था की जानी चाहिए ताकि वे अकेलेपन और अवसाद की स्थिति से उबर सकें।

**सामाजिक सहभागिता के अवसर बढ़ाना–** सामुदायिक संगठन, महिला मंडल, एवं वरिष्ठ नागरिक क्लबों के माध्यम से वृद्ध महिलाओं को सामाजिक गतिविधियों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। स्थानीय निकायों एवं गैर–सरकारी संगठनों को इस दिशा में सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए ताकि वृद्ध महिलाएँ समाज से जुड़ी रहें और "सार्थकता" की भावना बनाए रखें।

**आर्थिक स्वतंत्रता को प्रोत्साहन–** वृद्ध महिलाओं के लिए सूक्ष्म ऋण योजनाएँ, स्वयं सहायता समूह, और गृह–आधारित रोजगार कार्यक्रम प्रारंभ किए जाएँ। सरकार द्वारा दी जाने वाली पेंशन योजनाओं को समय पर और पारदर्शी ढंग से लागू किया जाए। ग्रामीण क्षेत्रों में हस्तकला, बुनाई, खाद्य–प्रसंस्करण आदि कार्यों में वृद्ध महिलाओं की सहभागिता से उन्हें आर्थिक आत्मनिर्भरता का अनुभव कराया जा सकता है।

**परिवारिक संवेदनशीलता एवं सहयोग बढ़ाना–** परिवार के सदस्यों को वृद्ध महिलाओं के प्रति सहानुभूति, सम्मान और संवाद का वातावरण विकसित करना चाहिए। युवा पीढ़ी को यह समझाना आवश्यक है कि वृद्ध महिलाएँ केवल आश्रित नहीं, बल्कि अनुभव और ज्ञान का भंडार हैं। परिवार में निर्णय कि प्रक्रिया में वृद्ध महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित की जानी चाहिए। शिक्षा एवं जागरूकता कार्यक्रम जैसे मीडिया, शिक्षा संस्थानों और सामाजिक अभियानों के माध्यम से वृद्ध महिलाओं के अधिकारों, स्वास्थ्य और सामाजिक भागीदारी के बारे में जन–जागरूकता फैलानी चाहिए। स्थानीय विद्यालयों एवं कॉलेजों में "इंटरजेनरेशनल प्रोग्राम" प्रारंभ किए जाएँ, जिनसे युवाओं और वृद्ध महिलाओं के बीच संवाद और सहयोग की भावना विकसित हो सके।

**नीतिगत स्तर पर पहल–** राज्य सरकारों को "वृद्ध महिला सशक्तिकरण नीति" तैयार करनी चाहिए जिसमें स्वास्थ्य, सुरक्षा, आर्थिक सहयोग और सामाजिक भागीदारी से संबंधित प्रावधान शामिल हों। पंचायत स्तर पर वृद्ध महिला कल्याण समिति गठित की जा सकती है जो उनकी आवश्यकताओं की निगरानी करे। संक्षेप में, वृद्ध महिलाओं की आत्म–अवधारणा को सशक्त बनाने के लिए समग्र दृष्टिकोण आवश्यक है, जिसमें मानसिक स्वास्थ्य, आर्थिक अवसर और सामाजिक स्वीकृति तीनों का संतुलित विकास हो। यदि समाज वृद्ध महिलाओं को सम्मान, अवसर और आत्मनिर्भरता प्रदान करता है, तो उनकी आत्म–अवधारणा स्वाभाविक रूप से सकारात्मक होगी, जिससे न केवल उनका जीवन–संतोष बढ़ेगा, बल्कि समाज की संवेदनशीलता और सामूहिक चेतना भी मजबूत होगी।

## संदर्भ सूची

1. देव, पी., और पुरोहित, डी. (1985). आत्म–अवधारणा पैमाना। राष्ट्रीय मनोवैज्ञानिक निगम, आगरा।
2. जेम्स (1890) जगदीश और श्रीवास्तव, ए. के. (1983), मानसिक स्वास्थ्य सूची। आत्म–अवधारणाः मानस प्रकाशन, वाराणसी।
3. शर्मा, आर. (2015), वृद्ध महिलाओं में मनोवैज्ञानिक कल्याण और आत्म–अवधारणा। भारतीय मनोविज्ञान जर्नल, 32(2), 45–57।
4. सिंह, पी. (2018)। वृद्धावस्था में आत्म–अवधारणा और जीवन संतुष्टिः एक तुलनात्मक अध्ययन। दिल्ली विश्वविद्यालय प्रेस।
5. गुप्ता, एन. (2016), वृद्ध महिलाओं में मानसिक स्वास्थ्य समस्याएँः एक सामाजिक–मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य। भारतीय मनोवैज्ञानिक समीक्षा, 23(1), 60–72।

6. कौशल, आर. (2017), वृद्ध महिलाओं में सामाजिक भागीदारी और आत्म–सम्मान। सामाजिक मनोविज्ञान जर्नल, 40(3), 121–135।
7. देवी, एम., और मिश्रा, एस. (2019), बिहार में वृद्ध महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता और आत्म–धारणा। बिहार आर्थिक समीक्षा, 12(1), 77–90।
8. चौधरी, के. (2020), ग्रामीण और शहरी वृद्ध महिलाओं की आत्म–धारणा का तुलनात्मक अध्ययन। जर्नल ऑफ जेरोन्टोलॉजिकल स्टडीज, 7(2), 55–69.
9. हेल्पएज इंडिया (2021), भारत में वृद्ध महिलाओं की स्थिति। नई दिल्ली, हेल्पएज फाउंडेशन।
विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ 2020), वृद्धों का मानसिक स्वास्थ्य। जिनेवा, डब्ल्यूएचओ प्रकाशन।

# स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

**डॉ. देवेन्द्र कुमार सिंह***

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनैतिक क्षितिज पर अनेक समस्याएं और घटनाएँ एक–एक कर उभर रही थीं। जिनका प्रभाव समाज और साहित्य पर पूर्ण रूप से पड़ रहा था। राष्ट्रीय घटनाओं के अतिरिक्त एशिया जन–जागरण की घटना का भी प्रभाव तत्कालीन जन–जीवन और साहित्य पर पड़ा डॉ. शम्भूनाथ चतुर्वेदी ने लिखा है कि 'देश की राजनीतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त समय एशिया के जागरण का प्रभाव भी स्वातंत्र्योत्तर कविता पर पड़ा। एशिया में जन–जागृति की जो लहर फैल रही थी, उसकी प्रतिक्रिया भी कवियों के मानस पर हुई। एशिया के देशों में स्वतन्त्रता, आत्मनिर्भरता और स्वाभिमान की जो भावना पनप रही थीं, उनकी अभिव्यक्ति काव्य में की गयी। इस प्रकार यह कहा जा सकता कि स्वातंत्र्योत्तर राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक समस्याओं और घटनाओं ने भारतीय जीवन और साहित्य को पूर्णरूप से आन्दोलित किया।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, वैचारिक दृष्टि से विशिष्ट है। आजादी के बाद भारत और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में राजनीति और कविता के युग्म को एक ताकतवर धारा के रूप में प्रतिष्टित करने का काम शुरू हुआ। इस दौर के कवियों ने देश की संसदी चुनाव, समाजवाद, लोकतंत्र, धर्म निरपेक्षता निर्गुण आन्दोलन आदि लोगो का पर्दाफाश किया है। स्वतंत्रता के बाद बुद्धिजीवियों के स्वप्न बहुत ही जल्दी धराशाही होने लगे थे। राजनीतिक अवमूल्यन ने जनता के विश्वास को हिलाकर रख दिया। सामंतवादी शासन व्यवस्था धर्मनिरपेक्ष एवं लोकतंत्रिय शासन प्रणाली को शुरू किया, परन्तु यह शासन व्यवस्था सैद्धान्तिक स्तर पर जितना आकर्षक थी, व्यावहारिक स्तर पर उतना नही थी। आज के समय इस व्यवस्था में भीं तानाशाही की प्रक्रिया चल पड़ी है। संविधान लागू होने के पश्चात् बनी पंचवर्षीय योजना में भी सामान्यजन के हित की उपेक्षा की गयी।

अपर्णा सारस्वत के शब्दों में– "कविता में आम आदमी की जिंदगी को प्राथमिकता मिली। उसकी समस्याओं पर खुलकर विचार हुआ, एक गहरी सामाजिक चेतना इस कवि वर्ग में परिलक्षित हुई। उनके काव्य में भी आम आदमी का संघर्ष चित्रित हुआ है। शोषकों के अत्याचार प्रकट हुए है और राजनीति को बेनकाब करने वाली रचनाएँ रची गयी है।"[1]

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कविता में आन्दोलन 1950 से 1990 तक की कविताओं में काव्यान्दोलन बहुत ही देखने को मिलता है। इनके मूल में आंदोलनों की पृष्ठभूमि समसामयिक एवं परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। इन आन्दोलनों को लेकर कवियों के कविताओं में बहुत सी चर्चायें भी हुई है। लेकिन इतना सत्य है की इन आंदोलनों के समर्थकों ने अपने–अपने ढंग से जनता के संघर्ष में अपनी भूमिका निभाने की भावना प्रकट हो रही है। कविता के विविध आयाम रहें है अकविता, जनवादी कविता, अस्वीकृत कविता, सहज कविता, प्रतिबद्ध कविता, विचार कविता, बीट कविता, वाम कविता, सनातनी सुर्योदयी कविता, लम्बी कविता, युयुत्सावादी कविता आदि स्वातंत्र्योत्तर युग की कविताओं में मनुष्य की आमजन की भाषा का प्रयोग किया गया है। कुछ मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए कुछ सामाजिक नियमों को मानना अनिवार्य हो जाता है।

26 जनवरी 1950 में भारत का संविधान लागू हुआ, जिसके अनुसार भारत को गणराज्य घोषित किया गया। भारतीय राजनैतिक इतिहास में यह अविस्मरणीय स्थिति है। देश में लोकतन्त्र की स्थापना हुई। प्रत्येक दृष्टि से भारत के विकास की कल्पना की गयी। भारतीय जनता ने इस आशा और विश्वास से आजादी की लड़ाई में खुले दिल से भाग लिया था कि आजादी के साथ ही हमें आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय प्राप्त होगा, लेकिन ऐसा नहीं हो सका। सत्ता तो हस्तान्तरित होकर भारतीयों के हाथ में अवश्य आ गयी, किन्तु शासन–प्रणाली अंग्रेजों की लीक पर ही चल रही थी। भारतीय अफसर का दिल दिमाग अंग्रेज विचारधारा के रंग में रंगा था। 'अंग्रेज यहाँ से तो चले गये पर उनकी संसदीय प्रणाली, भाषा, प्रशासन–पद्धति, चिकित्सा–पद्धति, अर्थव्यवस्था, जीवनदृष्टि, वैचारिक दृष्टि से हमलोग मुक्ति न पा सके। इससे भारतीय राजनीति में विकृत तत्वों का समावेश हो गया। जिससे प्रेरित हो साम्प्रदायिकता नग्न रूप में जनता को दिखलायी दी। आम जनता की यह धारणा थी कि आजादी के बाद जो नयी शासन व्यवस्था

* ई–मेल : devendrasankalp@gmail.com

स्थापित होगी उसमें शोषण, वैषम्य और अत्याचार आदि नहीं होगें। लेकिन आजादी के कुछ वर्षों पश्चात् ही यह तथ्य स्पष्ट हो गया कि भारतीय सामान्यजन पहले से कहीं अधिक पीड़ित और शोषित है। आजादी से पूर्व का भारत आर्थिक दृष्टि से अधिक समृद्धशाली था किन्तु स्वाधीनता के पश्चात् देश आर्थिक दृष्टि से काफी विपन्न हो गया। अंग्रेजों की साम्राज्यवादी और शोषक नीति के कारण देश आर्थिक दृष्टि से पहले ही खोखला हो चुका था। आजादी के पश्चात् देश विभाजन, शरणार्थी समस्या बढ़ती हुई जनंसख्या, बेकारी, महँगाई, अकाल, भुखमरी, पाक युद्ध और चीन युद्ध आदि के कारण देश की अर्थव्यवस्था और जर्जरित हो गयी। जवाहरलाल नेहरू ने आर्थिक समस्या को व्यक्त करते हुए लिखा है कि "अपनी दीर्घकालीन पराधीनता और विश्वव्यापी युद्ध तथा उसके परिणामों ने हमारे आगे बहुत–सी अत्यावश्यक समस्याओं को डाल दिया। आज हमारी जनता के लिए भोजन, वस्त्र और अन्य वस्तुओं की कमी है और हम इस मुद्रास्फीति और बढ़ती हुई कीमतों के बवंडर में पड़ गये हैं। हम इन–समस्याओं को तुरन्त हल नहीं कर सकते, साथ ही उसके हल करने में देर भी नहीं लगा सकते।"[2]

साम्राज्यवादी नीति के कारण देश में वर्गभेद को बढ़ावा मिला। जिससे आम जनता शोषण का शिकार बनी। अर्थव्यवस्था की इस विकट समस्या ने संवेदनशील और बुद्धिजीवी वर्ग को विक्षुब्ध कर दिया। धर्मवीर भारती ने लिखा है कि 'अपने दैनिक जीवन के लिए हमें आर्थिक आधार के अलावा कोई दूसरा आधार ढूँढना होगा। हमें आर्थिक प्रश्न से तो छुटकारा पाना ही है। शासन पद्धति में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना होगा...... . । "मानव की आत्मा तो इस प्रकार को कोई अर्थ नहीं है, यदि उसके जूते पांव को बुरी तरह काट रहे हैं कि यह चल भी न पाये। हमारे सब आदर्श योग हैं। यदि हम पूंजी की श्रृंखलायें तोड़ भी न पायें। हम इस चौखटे को बीमार कर देंगे, धरती, उद्योग, यातायात के साधन, आमोद–प्रमोद सभी जनता के होंगे सभी हम सच्चे अर्थ में जिन्दगी जीना आरम्भ करेंगे।"[3]

प्रगतिवादी आन्दोलन बाहर से आयातित नहीं है, बल्कि तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों की उपज है। डॉ. शिवकुमार मिश्र ने प्रगतिवाद के आविर्भाव के सम्बन्ध में लिखा है कि 'प्रगतिवादी काव्य युगीन आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों और तजन्य प्रभावों के फलस्वरूप विषाक्त, जड़, कुंठित और वायवीय हो जाने वाले इन क्षेत्रों के वातावरण की उपज है, जिसने व्यक्ति के स्थान पर समाज और जनजीवन के कल्याण, निराशा, पराजय और क्षयी रोमांस के स्थान पर आशा, उत्साह और स्वस्थ प्रेम की दिशाओं में साहित्य को गतिशील किया है।'[4] इस काव्य में सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है। समाज के आह और चीत्कार का स्वर मुखर है। व्यष्टि के स्थान पर समष्टि की अभिव्यक्ति हुई है। कृषक, मजदूर और शोषित वर्ग ही इस काव्य की विषयवस्तु है। छायावादी कवि पन्त और निराला ने प्रगतिवादी चेतना को प्रेरणा प्रदान किया। बाद में चलकर इन कवियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया। पन्त जी के 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की अधिकांश कविताओं में प्रगतिवादी चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। निराला की 'तोड़ती पत्थर', 'बादलराग', 'विधवा', 'भिक्षुक' आदि कविताओं में सामाजिक यथार्थ का नग्न रूप परिलक्षित होता है। 'कुकुरमुत्ता' कविता में वर्ग–वैषम्य के प्रति कटु व्यंग्य मुखर हुआ है। इस कविता में कुकुरमुत्ता निम्न वर्ग का प्रतीक है तथा गुलाब उच्च वर्ग का–

**'रस चूसा खाद का तूने अशिष्ट**
**डाल पर इठला रहा बन कैप्टलिस्ट।'[5]**

'निराला' ने ही यह सर्वप्रथम अनुभव किया कि भारतमाता केवल ग्रामवासिनी कृषक–वधू ही नहीं है बल्कि वह इलाहाबाद के पथ पर पत्थर तोड़ती हुई एक सामान्य मजदूर नारी भी है।' निराला की अनेक कविताओं में समाज का यथार्थ व दर्दनाक रूप प्रस्तुत हुआ है–

**'वह आता**
**दो टुक कलेजे को करता, पछताता पथ पर आता।'[6]**

प्रगतिवादी प्रवृत्ति और चेतना का विकास तो पन्त और निराला की कविताओं से ही प्रारम्भ हो जाता है, किन्तु इस विचारधारा का चरमोत्कर्ष बाद के कवियों की रचनाओं में ही मिलता है। इस धारा के प्रमुख कवि हैं – डॉ. रामविलास शर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, अंचल, दिनकर, त्रिलोचन आदि। ये कवि समाजवादी और साम्यवादी सिद्धान्त से विशेष रूप से प्रभावित थे। इनके रचनाओं में व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्व मिला है। सामाजिक यथार्थ का बहुआयामी चित्रण हुआ है। कवि कल्पना लोक को छोड़कर जीवन के ठोस आधार को ग्रहण किया है। निराशा और कुंठा के स्थान पर आशा,

आस्था और उत्साह आदि प्रवृत्तियों का प्रतिपादन हुआ है। इन कवियों ने सामाजिक कुरीतियों एवं परम्परागत रूढ़ियों का विरोध भी किया है। इसकी भाषा साधारण बोलचाल की है। भाषा में सरसता, सरलता और बोधगम्यता है। कलापक्ष की ओर इन कवियों का ध्यान बहुत कम गया है। यह कविता छन्द से मुक्त होकर अपना पथ प्रशस्त की है।

प्रगतिवादी काव्यधारा 1943 ई. तक आते–आते क्षीण हो जाती है। इसके अवसान के मूल में विभिन्न कारण निहित थे। प्रथम कारण तो यह है कि यह काव्यधारा साहित्य को छोड़कर राजनीतिक मार्ग से प्रवाहित हुई विषयवस्तु का सीमित और संकुचित होना भी इसका अन्य कारण है। 'प्रगतिवादियों के कला विषयक उपेक्षाकारी तथा राजनीतिक संकीर्णतावादी दृष्टिकोण ने प्रगतिवादी काव्यधारा के सम्यक् विकास को कुंठित कर दिया। राजनीतिक दल विशेष की नीतियों और सिद्धान्तों की तथा जनता की कुछ सीमित स्थितियों की स्थूल अभिव्यक्ति में ही प्रगतिवादी काव्यधारा को सार्थकता सीमित हो गयी।' रूस और चीन की विजय तथा मार्क्सवाद के प्रभाव से यह काव्यधारा पूर्णतः आक्रान्त हो गयी थी। प्रभावस्वरूप इसमें बौद्धिकता, संकीर्णता और राजनीतिक सिद्धान्तों को ही प्रमुखता दी गयी। प्रगतिवादी कवि पन्त के शब्दों में, 'प्रगतिवाद ने साहित्य पर ऐसा कोई प्रभाव नहीं डाला जिसे हम किसी भी दृष्टि से साहित्यिक प्रभाव कह सकते हैं। यह मुख्यतः साहित्येतर आन्दोलन था जो साहित्य के भीतर केवल राजनीतिक उपयोग के लिए साहित्यकारों का शोषण करने को आया था।' इस प्रकार अपनी न्यूनताओं के कारण प्रगतिवाद समाप्त हो गया।' हिन्दी काव्य साहित्य में एक नयी धारा का उदय हुआ जिसे प्रयोगवाद की संज्ञा से अभिहित किया गया। इसका प्रादुर्भाव 1943 ई. में 'तारसप्तक' के प्रकाशन से हुआ। इसका प्रकाशन अज्ञेय के सम्पादकत्व में हुआ। इस काव्य के विषयवस्तु और शिल्प दोनों क्षेत्रों में नवीन प्रयोग हुए हैं प्रयोगवाद आधुनिक हिन्दी कविता में सर्वाधिक मौलिक व अपारंपरिक प्रवृत्ति के रूप में आया। इसने कविता के धर्म और रचनाशिल्प की पूर्वप्रचलित मान्यताओं को झकझोर कर रख दिया 'तारसप्तक' में अज्ञेय जी के अतिरिक्त गजानन माधव मुक्तिबोध, गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल और रामविलास शर्मा की रचनायें भी संकलित हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध के भीषण प्रभाव से समाज में अनेक विषमतायें उत्पन्न हो गयी थीं। मानवमूल्य विघटित हो रहे थे। व्यक्तिजीवन और समाज में अनास्था, निराशा, कुंठा, घुटन आदि को वृत्ति व्याप्त हो गयी थी सुरेशचन्द्र सहल ने प्रयोगवादी काव्य के समसामयिक परिवेश के विषय में लिखा है कि 'द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रभाव इस काव्य पर सर्वाधिक पड़ा है, किन्तु इसके साथ ही कुछ राष्ट्रीय कारण भी थे, जिनसे यह कविता प्रभावित हुई है। 1942 ई. के आन्दोलन को कुचला गया, कन्ट्रोल के कारण अनाज मिलना दुर्लभ हो गया, मकानों की समस्या भी कम नहीं थी। चारों ओर जीवन में अभाव ही अभाव दृष्टिगत हो रहे थे। ...... हुआ इस विरोधाभास, विद्रूपता और घिनौनेपन से स्वप्न दृष्टाओं का मोहभंग और उन्हें कटु यथार्थ का सामना करना पड़ा। युग–जीवन की ऐसी परिस्थिति में कुंठा और निराशा जन्म ले रही थी।'[7] अतः प्रयोगवादी कवियों ने समाज एवं युग की सम्भावनाओं को समझा। यह नवीन चेतना का काव्य है। वैयक्तिकता इस काव्य की प्रमुख विशेषता है। प्रयोगवाद पूर्ववर्ती काव्य प्रवृत्तियों के प्रतिक्रियास्वरूप उभरा। इस काव्य ने परंपरागत रूढ़ियों को ध्वस्त किया तथा उसके स्थान पर नवीन प्रयोग को महत्व दिया। इसमें मौनवर्जनाओं, प्रेम और सौन्दर्य का स्थूल और विशुद्ध, खुला चित्रण मिलता है। सौन्दर्यबोध की प्रस्तुति नये सन्दर्भ में हुई है। नामवर सिंह ने लिखा है कि 'छायावाद का छुई–मुई प्रेम अब मांसल रूप में प्रकट होने लगा। जहाँ पहले सिद्धान्त था– "सौन्दर्य केवल देखने की वस्तु है, छूने की नहीं यहाँ प्रयोगवादी कवि ने उसे एकदम छूने की परिधि में खींच लिया है।"[8] इस काव्य प्रवृत्ति के कवियों ने काव्य के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयोग किया है। प्रयोगवादी कवियों ने यह अनुभव किया कि पूर्ववर्ती काव्य–विषय और शिल्प बासी हो गये हैं। पुराने शिल्प एवं शैली समसामयिक परिवेश को निरूपित नहीं कर सकते। तब उन्होंने काव्य–क्षेत्रों में नये मानदण्डों की स्थापना की। नवीन प्रयोग के विषय में अज्ञेय ने लिखा है कि 'मेरी पीढ़ी का कवि ऐसे स्थल पर पहुँचा जहाँ उसे अपनी पिछली समूची परम्परा का अवलोकन करके अभिव्यक्ति के नये प्रकार खोजने की आवश्यकता प्रतीत हुई। कवि ने नये सत्य देखे, नये 'व्यक्ति सत्य' और 'सामाजिक सत्य' भी, और उनको कहने के लिए उसे भाषा को नये अर्थ देने की आवश्यकता हुई। आवश्यकता काव्यक्षेत्र में भी प्राचीन की जननी है और जिन–जिन कवियों ने अनुभूति के नये सत्यों की अभिव्यक्ति करनी चाही, सभी ने नये प्रयोग किये।' 'दूसरा सप्तक' स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद 1951 ई. में प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशन के समय तक प्रयोगवाद पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया था। संक्षेप में, स्वतन्त्रता से पूर्व हिन्दी काव्य साहित्य की यही परम्परा थी।

साहित्य की इसी पृष्ठभूमि से नयी कविता का विकास हुआ। यह प्रयोगवाद का ही परिवर्तित एवं परिष्कृत रूप है। 1947 ई. में देश स्वाधीन हुआ। इस राष्ट्रीय घटना ने भारतीय राजनीति, समाज दर्शन और साहित्य आदि क्षेत्रों में एक नया मोड़ स्थापित कर दिया। नयी कविता स्वतन्त्रता के बाद की कविता है, इसलिए इसमें नयी राष्ट्रीय चेतना, नया परिवेश तथा नये युग का स्वर मुखरित हुआ है। स्वाधीन भारत की कविता होने के कारण 'उसमें एक नये स्वाधीन हुए देश की आशायें, आकांक्षायें प्रतिध्वनित हुई हैं। नये मानव व्यक्तित्व की खोज और नये मनुष्य की प्रतिष्ठा का प्रश्न उसमें सन्निहित है।' नयी कविता की विवेचना करते हुए डॉ. भगीरथ मिश्र ने लिखा है कि 'नयी कविता एक आन्दोलन है जो आज की कविता को जीवन के निकट लाना चाहती है जिसका जीवन यथार्थ है – यथार्थ जीवन अपने समस्त सौन्दर्य और कुरूपता, संगीत और विरूपता, विशालता और संकीर्णता। आनन्द और सबके साथ यह वह जीवन है जिसके अनुभूतियों का स्वच्छन्द सहज प्रकाशन है और इस प्रकाशन में किसी प्रकार का दुराव छिपाव, कुंठा मर्यादा, संकोच आडम्बर नहीं है।' इस प्रकार नयी कविता आधुनिक भावबोध और नवीन काव्य मूल्यों को अपने आप में समाहित किये हुए है।

## संदर्भ सूची


1. सास्वत, अपर्णा, स्वातंत्र्योत्तर मूल्य चेतना, पृष्ठ सं.–12
2. नेहरू, जवाहरलाल, स्वाधीनता और उसके बाद, पृष्ठ सं.–8
3. भारती, डॉ. धर्मवीर मानव मूल्य और साहित्य, पृष्ठ सं.–46–49
4. मिश्र, डॉ. शिवकुमार, नया हिन्दी काव्य, पृष्ठ सं.– 150
5. त्रिपाठी, सूर्यकान्त 'निराला', कुकुरमुत्ता।
6. सहल, सुरेशचन्द्र नयी कविता और उसका मूल्यांकन, पृष्ठ सं.–51
7. निराला, भिक्षुक (अपरा), पृष्ठ सं.–671
8. चौहान,डॉ. रामगोपाल सिंह स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी काव्य (शोधप्रबन्ध), पृष्ठ सं.–41

# मंजूर एहतेशाम कृत सूखा बरगद की तात्विक समीक्षा

डॉ. विशेष चंद्र गुप्त*

**उपन्यास के तत्व** छः है 1.कथावस्तु 2. चरित्र - चित्रण 3. संवाद 4.वातावरण 5.भाषा - शैली 6.उद्देश्य इन तत्वों के आधार पर सूखा बरगद उपन्यास की समीक्षा निम्नलिखित रूप से की गई हैं -

मंजूर एहतेशाम का जन्म 3 अप्रैल 1948 को भोपाल में हुआ था । उन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से पढ़ाई की और मौलाना आज़ाद राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान के पूर्ववर्ती रहे । पांच वर्ष पहले भोपाल में कोविड - 19 के लिए भर्ती होने के बाद 26 अप्रैल 2021 को यहाँ एक निजी अस्पताल में उनका निधन हो गया ।

**1.कथावस्तु** - सूखा बरगद' में मंजूर एहतेशाम ने मुस्लिम मध्यवर्ग की नारी की सोच और व्यवहार में आये परिवर्तनों को विस्तृत रूप से चित्रित किया है। जहां एक तरफ रशीदा की माँ और उसकी समकालीन पीढ़ी है जो अशिक्षा, पर्दा-प्रथा जैसी रूढ़ियों में पली बढ़ी है, जो चाह कर भी इन परंपरागत बंधनों से मुक्त नहीं हो पाती है। वहीं दूसरी ओर रशीदा और रजिया की नयी पीढ़ी है, जो उच्च शिक्षा प्राप्त है जो आवश्यकतानुसार नौकरी भी करती हैं और रूढ़िगत आडंबरों पर प्रहार करने से भी नहीं चूकती हैं। रशीदा की निम्न बातों से हम उस समय के सामाजिक व भौगोलिक ताने-बाने को समझ सकते हैं। "उस उम्र में यह अन्दाज लगा पाना कि हम लोग किस भूगोल अथवा माहौल का कौन-सा हिस्सा है, सम्भव नहीं था। मुझे लगता, अब्बू के होते हमारे वास्ते दुनिया की चीज जुटायी जा सकती है। यह बात और है कि उस समय की कल्पना की दुनिया और आज में बड़ा अन्तर है। तब मुहल्ले के अलावा शहर फसीलों, दरवाजों और तालाबों का एक सिलसिला था जिसमें किन्हीं मुहल्लों में हमारे रिश्तेदार रहते थे, कहीं अब्बू-अम्मी के दोस्त या जान-पहचान वाले। हम आर्थिक रूप से किस वर्ग विशेष से सम्बन्धित हैं, अब्बू की आमदनी कितनी है, मजहब के नाम पर हमारा मुसलमान होना क्या अर्थ रखता है, सोच पाना सम्भव नहीं था। बस इतना मालूम था कि शहर में मुसलमानों के अलावा हिन्दू भी रहते हैं; जो कलमा नहीं पढ़ते, मस्जिद में नहीं आते, बकौल फफू के काफिर है, बुत पूजते हैं, इसलिए मरने के बाद जहन्नुम में जायेंगे"।[1]

**2.चरित्र - चित्रण -**

इस उपन्यास में 'फफू' जैसी औरते भी है जो पति से अलग रहकर अपने आप को नमाज और इबादत में मुब्तिला करती हैं। यह उपन्यास मध्यवर्गीय मुस्लिम समाज की आर्थिक और सांस्कृतिक संघर्ष का वर्णन ही नहीं अपितु संस्कृति की चिन्ता भी गहन रूप से करता है। आजादी के बाद मुस्लिम समुदाय के प्रति पल-पल बदलने वाली सामाजिक राजनीतिक स्थितियाँ किन-किन रूपों में परिवर्तित हुई और यह मुस्लिम समुदाय किस आन्तरिक पीड़ा और द्वंद से गुजरा इस उपन्यास में इसका सामाजिक विश्लेषण बेहतरीन तरीके से किया गया है। यही बिंदु है जिसको ध्यान में रखकर मंजूर एहतेशाम ने इस उपन्यास को लिखा। उनके एक पात्र का कथन इस प्रकार है- "रिश्तेदारों में हमारे दो मामू थे, एक ताया और तीन फूफियां। फिर और दूर के रिश्तेदार थे जिनसे एक चैथाई शहर बसा पड़ा था और कभी-कभी अम्मी के साथ मैं और सुहेल उसके घर भी जाते। तब दिमाग समझ नहीं पाता था, लेकिन अम्मी और अब्बू के तरफ रिश्तेदारों में जो खास फर्क था, वह यह कि अम्मी के सारे रिश्तेदार खुशहाल और खाते-पीते थे जबकि अब्बू की तरफ के ज्यादातर लोग गरीब और फटेहाल थे।"[2] 'सूखा बरगद' उपन्यास में उपन्यासकार ने एक ऐसे मुस्लिम परिवार का चित्रण किया है, जिसके विचार उदार है

---

* विभागाध्यक्ष (हिंदी विभाग), महाराष्ट्र इंस्टिट्यूट ऑफ हायर एजुकेशन, जबलपुर

और उसकी विचारधारा सेक्युलर लेकिन यह परिवार अपनी व्यवहारिक कठिनाइयों के चलते परम्परा और आधुनिकता के बीच वैचारिक संघर्ष में हिचकोले खाते रहता है। रशीदा की माँ के संस्कार परम्परागत है तो वहीं उसके अब्बू की सोच नये जमाने के हिसाब की है। वे अपने बच्चों को मानसिक और बौद्धिक विकास की सही दिशा प्रदान करते हैं।

रशीदा एक स्थान पर बताती है कि नवाब साहब बहुत बड़े आदमी थे। जब वे अपने गाड़ी से जा रहे थे, उसी समय हम मामू के साथ गाँव जा रहे थे, तो उन्होंने यह कहकर गाड़ी सड़क के नीचे उतार दी थी कि नवाब साहब की गाड़ी आ रही है फिर उसके बाद मामू ने हाथ उठाकर सलाम किया था और बाकी बच्चों से भी सलाम करने को कहा था। सलाम करते हुए हाथों को देखकर गाड़ी जरा धीमी हुई थी, एक हाथ बाहर निकालकर हिलता, सलामों का जवाब देता आगे निकल गया था। अंदर बैठे नवाब साहब को मैं पूरी तरह देख भी नहीं पाई थी। "तुमने सलाम क्यों नहीं किया?" मामू ने सुहेल से पूछा था। उसके चुप रहने पर उन्होंने आगे जोड़ा था, अपने पूरे व्यंग्यात्मक स्वर में- "एक नस्ल के लिए एक ही इन्कलाबी काफी होता है बेटे। बाप के कदमों पर चले तो औंधे मुँह गिरोगे।"[3] अब्बू प्रगतिशील और अम्मी परंपरावादी विचारों के बीच संघर्ष, जो बच्चों के मन - मस्तिष्क पर प्रभाव डालता है । रशीदा और सुहेल जैसी युवा पीढ़ी, जो पुरानी पीढ़ियों की रूढ़ियों और नए विचारों के बीच संतुलन बैठाने का प्रयास किया गया ।

**3. संवाद या कठोपकथन** - इस उपन्यास में पात्रों की मनो स्थिति के अनुसार संवाद का प्रयोग हुआ है । प्रस्तुत उपन्यास में इस बात पर बल दिया है कि दो कौमों के सिद्धांत पर बना पाकिस्तान आज भी भारतीय मुसलमानों के लिए अच्छी - खासी मुसीबत है । जब कभी पाकिस्तान से युद्ध छिड़ा , भारतीय मुसलमान की देशभक्ति संदेह के घेरे में आ गई । रशीदा ने स्वीकार किया है कि उसकी और उस जैसे कइयों की हमदर्दी पाकिस्तान के साथ रही है लेकिन उसका विवेक इस भावुकता से अक्सर टकराता है उसे अपनी उलझन का बयान इन शब्दों में किया है - " उस मुल्क से हमदर्दी कैसी, जिसे आज तक तुमने देखा ही नहीं ? और इस गुनाह के अहसास से भी कैसे इनकार किया जाय कि हमदर्दी थी । तो क्या मैं चाहती है पाकिस्तान जीत जाए ? इसलिए कि वहां से जो आता है ,' वह सलाम - आलेकुम ' कहता है और हम लोगों से मिलते - जुलते कपड़े पहनता है ।"[4] छिप-छिप कर पाकिस्तान रेडियो सुनने का मसला भी संवेदनशील है । अब्बू जैसे लोग तो रेडियो पाकिस्तान को जबरन झूठी खबरें देने के आधार पर खारिज कर देते हैं, लेकिन सुहैल इस मसले को आज हिंदुस्तान में मुसलमानों की हैसियत से जोड़ देता है । - " और खुल्लम खुल्ला वह सुनता है जिसे यकीन हो उसे शक की नजर नहीं देखा जाएगा । मुसलमान को इतनी मुसलमान को इतनी इज्जत दी ही कहां गयी कि उसमें इतना 'सेल्फ - कांफिडेंस' आ सके उसे तो ज्यादा से ज्यादा यह समझ लिया गया है कि पड़ा रहने दो । जाना तो इसे पाकिस्तान ही है । जब तक हो सके बर्दाश्त कर लो । "[5]

**4.देशकाल या वातावरण -** वास्तव में "हिन्दू और मुसलमान कुछ इस तरह से करीब आये। एक दूसरे से मेल-जोल ऐसा बढ़ा कि रहन-सहन, रस्म व रिवाज, अकीदत व मुहब्बत और हद यह कि पूजा और इबादत में नाम-भर का फर्क रह गया। अगर एक तरफ मुसलमान कुछ मंदिरों में चढ़ावा चढ़ाने लगे तो हिन्दू मस्जिदों के दरवाजे पर दुआएँ देने लगे। मंदिर कलश में ईरानी कला की झलक नजर आई तो दूसरी तरफ मस्जिद के गुम्बदों में कमल के फूल नजर आने लगा। दोनों कौमों के लोगों ने कुछ ऐसे तौर-तरीके अपनाएँ जो पूरी तरह से न तो इस्लामी थे और न पूरी तरह से हिन्दू थे, बल्कि हिन्दोस्तानी थे।"[6] यही वजह है कि इस्लामी दुनियाँ में भी भारत के मुसलमानों को 'हिन्दोस्तानी मुसलमान' कहा जाता है। इनकी अलग पहचान बन गई है।

मंजूर एहतेशाम के उपन्यास 'सूखा बरगद' का केन्द्र भारत का वह मध्यवर्गीय समाज है जो अनेकानेक धार्मिक, रूढ़ियों और पिछड़ेपन का शिकार है। यह एक ऐसा समाज है जो धार्मिक आधार पर ही अपने तमाम निर्णय लेता है। जब भी वह कुछ नया करने की कोशिश करता है उसमें उसका मजहब और उसकी बातें मुँह

बाये खड़ी हो जाती है। उपन्यास की स्त्री पात्र रशीदा का यह कहना है कि- "हुमेरा आपा और नजमा आपा बुर्का ओढ़े शाम को स्कूल की बस से घर लौटती और उसको आता देखकर आदमी मुँह मोड़कर खड़े हो जाते पर्दे और अदब के लिए।

"माँ की मर्जी है", छोटे मामू उनके स्कूल जाने से चिढ़कर कहते- "स्कूल में ऐसा क्या पढ़ाया जाता है जो घर पर नहीं पढ़ा जा सकता? समझाओं इसे।"[7] धार्मिक ख्यालों वाली और दिन-रात इबादत में लीन रहने वाली फफू छोटे बच्चों को डराते हुए यह शिक्षा देने का प्रयास करती है कि जो काम खुदा का है, उस काम को यदि कोई इन्सान करता है तो खुदा को नागवार लगता है। वैसे तो धर्म किसी भी समाज का अनिवार्य तत्व माना जाता है किन्तु मुस्लिम समाज में धर्म की जड़े बहुत ही गहरी है। वह मोमिन तभी हो सकता है- "जो दिल से इस्लामी आस्था के अनुसार खुदा पर इमान रखता हो और उसे अस्तित्व एवं गुण सामर्थ्य में किसी को साझेदार न ठहराये और ईस्लाम पर कर्मनिष्ठ हो। जबकि काफीर कुफ्र करने वाला अर्थात खुदा का इन्कार करने वाला।"[8] एक - दूसरे के प्रति द्वेष की भावना बढ़ती जाए ,आतंक बढ़ता जाए,जिससे सत्ता में बैठे सत्ताधारी और सत्ता में आने के लिए प्रयास करते रहे और वे अपना - अपना स्वार्थ सिद्ध करते रहे । इन्हीं प्रश्नों को आधार बनाकर इस इकाई के द्वारा समाज में फैल रहे इस विषाक्त वातावरण पर प्रकाश डाला गया है।'बशारत मंजिल' उपन्यास में मंजूर एहतेशाम ने चित्रकला का शौक रखने वाले माहरू जमानी के भाई आरिफ को काजी कमालुद्दीन कुरान पढ़ने की और हाफ़िज़ा करने का दबाव लगातार देते थे, जिसके चलते वहन पढ़ सका और न ड्राइंग बना सका। काजी कमालुद्दीन का एतराज काफी कड़ा रहता था। "मुसलमानों के लिए मूर्ति पूजा ही नहीं मूर्ति बनाना भी हराम था और इन्सानों के आकार का कागज-कैनवास पर बनाना या उसमें रंग भरना भी।"[9] 'बशारत मंजिल' उपन्यास का एक पात्र संजीदा अली का परिवार 1857 की क्रांति के बाद जान बचाकर दिल्ली से भोपाल आ गया था। इसी क्रम में मौलवी साहब संजीदा अली के अलीगढ़ जाकर साइंस पढ़ने की बात से खुश होते हैं और मुस्लिम समाज के पिछड़ेपन पर अफसोस जताते हुए कहते है- "साइंस जमाने का तकाजा और नये सोच का हासिल है। क्या करें लोग नहीं समझते कि मुसलमान दरअसल कितने पिछड़े हुए हैं और उन्हें साइंस की तालीम की कितनी जरूरत है।"[10]

**5.भाषा - शैली - उर्दू** और हिंदी को लेकर बनी विभाजनकारी सोच, एक पात्र की भाषा हिंदी ,तो मुस्लिम पात्रों की भाषा उर्दू है । रशीदा जैसे पात्रों के माध्यम से उर्दू और भारतीय संस्कृति की विरासत को बचाने का भी प्रयास दिखता है । पत्रानुकूल भाषा तथा प्रतीकों का प्रयोग किया है ।

**6. उद्देश्य:-** मौलवी साहब की सोच अत्यन्त व्यापक और प्रगतिशील है उनका स्पष्ट मानना था कि मुसलमान जमाने के साथ नहीं चलते और पुराने ढर्रों पर चलते हैं इसलिए उनका विकास आधुनिक दौर में भी नहीं हो पाया है जबकि विज्ञान या साइंस अरबी, उर्दू, फारसी से अलहदा है इसलिए इसका ज्ञानार्जन अलीगढ़ जैसे संस्थान में जाकर करना चाहिए। मंजूर एहतेशाम ने अपने उपन्यास 'सूखा बरगद' में अल्पसंख्यक मुसलमानों की सेक्युलरवादी सोच का बखूबी चित्रण किया है। आजादी की प्रथम लड़ाई 1857 की क्रान्ति को जिस प्रकार हिन्दू और मुसलमान दोनों ने मिलकर लड़ा था और अंग्रेजों को बाहरी हुकूमत का प्रतीक मानकर संघर्ष किया वह भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। अंग्रेजों ने इस बात को भली-भाँति जान लिया कि यदि हमें भारत पर राज करना है तो हमें दोनों धर्मों के बीच फूट डालनी होगी जिसकी शुरूआत सन् 1909 का वह अधिनियम था जिसमें मुसलमानों के लिए अलग से सीटे आरक्षित की गयी थी और उसी का नतीजा रहा भारत का विभाजन। इस प्रकार 1947 में अंग्रेजों ने बड़ी ही चालाकी से हिन्दू मुसलमानों की आपस की भाईचारे की छवि को पूरी तरह खण्डित कर दिया। पंडित नेहरू ने शीतयुद्ध के दौरान दो ध्रुवों में बंटी होने वाली दुनिया के बीच गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का आगाज किया और यह संदेश देने का प्रयास किया कि - "मेरा भारत देश किसी भी गुट में सम्मिलित नहीं है और इस तरह से भारत देश गुटनिरपेक्ष देशों का अगुआ बन गया। ठीक इसी

प्रकार नेहरूजी ने भारत को एक सेक्युलरवादी धर्मनिरपेक्ष देश बनाने की मुहिम भी चलाई क्योंकि उनको लगता था कि यह देश यहाँ पर रहने वाले हर कौम का है और बहुसंख्यक हिन्दू समाज मुसलमानों की देखभाल सही ढंग से करेगा तो निश्चित ही यह देश दिन-दूनी रात चौगुनी उन्नति करेगा। हकीकत यह है कि आजादी के बाद भारत ने सेक्युलरवाद के जिस रूप को विकसित किया है, सभी धर्मो में एक समान फासले के सिद्धान्त पर नहीं बल्कि उसूली फासले के सिद्धान्त पर आधारित है। भारत का सेक्युलरवाद इंग्लैंड और फ्रांस के सेक्युलरवाद जैसा नहीं है। उसे चर्च और राज्य के टकराव की रोशनी में देखे जाने के बजाय धर्मबाहुल्य राज्य में विभिन्न धर्मो के बीच होने वाले टकरावों को टालने और साधारण जनता के लिए सामाजिक सह-अस्तित्व की गारंटी देने वाली परियोजना के संदर्भ में देखे जाने की जरूरत है।

"आज के भारत के लिए सेक्युलरवाद का क्या तात्पर्य है? उनके पास इन सवालों के तीन संभव जवाब इस प्रकार है- (क) अल्पसंख्यक अधिकारों के पक्ष में मजबूती से खड़ा होना, लेकिन साथ में (ख) धर्मांधता को अलगाव में डालने के लिए धार्मिक सहिष्णुता के संसाधनों का इस्तेमाल करना और आंतरिक सुधारों को बढ़ावा देना और अंत में (ग) व्यापक समान हित की पहले से मौजूद सभी गुंजाइशों को और मजबूत करना।"[11] मंजूर एहतेशाम ने अपने उपन्यास 'कुछ दिन और' में हिंदू और मुसलमानों के आपसी संघर्ष को ठीक ढंग से रेखांकित किया है। पप्पू (हिंदू) और जमीला (मुस्लिम) दोनों के माध्यम से उपन्यासकार ने एक ऐसे मनोविज्ञान का चित्रण किया है, जिसके सहारे हम उस समय के सामाजिक ताने-बाने को समझ सकते हैं।

"हम लोगों ने शादी कर ली। कोर्ट मैरिज नहीं हो सकती थी जमीला की पहली शादी तलाक नहीं है। जमीला का नाम निवेदिता है। यहां एक जगह नौकरी मिल गई है, बाकी सब ठीक हैं। फिर ज्योति कुछ दिनों के लिए पप्पू के पास गई थी और वापस आकर उसने बताया था कि पप्पू और जमीला, अब निवेदिता, हँसी-खुशी रह रहे हैं।

मंजूर एहतेशाम अपने उपन्यास 'सूखा बरगद' उपन्यास में हिंदू-मुस्लिम संघर्षों का क्या परिणाम होता है और कर्फ्यू में बंद घरों में लोग क्या करते होंगे? कुछ शायद किस तरह दूसरी बिरादरी को बेहतर सिखाया जाए, इसके मंसूबे बनाते रहे होंगे, कुछ उन लोगों के इंतजार में परेशान होंगे, जिन्हें पुलिस पकड़ कर ले गई थी, कुछ अम्मी की तरह दुआएं मांगते रहे होंगे कि अल्लाह सब ठीक कर दे। मुझे अब्बू याद है- बेचैनी से पूरे घर में टहलते। न उन्होंने बात की थी, न अम्मी से कुछ बोले थे। वह बेचैनी और गुस्से का भाव उनके चेहरे पर, जैसे उनका ऐसा मुवक्किल जो बेकसूर है, कल फाँसी पर टांग दिया जाएगा। वह लाचारी कि उसे बचाने के लिए वह खुद कुछ नहीं कर सकते। वह नपुंसक गुस्सा जिससे इंसान सिर्फ अपने आप पर ही उतार सकता है।"[12]

वैसे भी जिस देश में अनेकानेक धर्म और संप्रदाय रहते हैं वहां इस तरह का टकराव होना कोई अनहोनी नहीं हैं। दुनिया में तो कई देश ऐसे भी हैं जहां आपस में ही लोग झगड़ते रहते हैं। उदाहरण के तौर पर पाकिस्तान व इराक के सुन्नी-शिया, अहमदिया आदि फिरको में सांप्रदायिक दंगे होते रहते हैं। ठीक इसी प्रकार आयरलैंड में कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट के बीच लगभग 300 साल से युद्ध चल रहा है। भारत में भी मुसलमानों के आगमन से पूर्व शैव-शाक्त आदि संप्रदायों के बीच भीषण संघर्ष होते रहे हैं। हिंदू धर्म और बौद्ध धर्म के प्रति विद्वेष के एक साथ विद्यमान होने के दो कारण दिखाई देते हैं। एक तो यह कि सभी धर्म तर्क-वितर्क और बुद्धि-विवेक का विषय न होकर अंधविश्वास और अंधश्रद्धा का विषय बन गए हैं। जिसके फलस्वरूप मामूली-सी बात पर भी हमारी भावनाएं भड़क उठती हैं। दूसरा कारण यह है कि सभी धर्म सत्ता-पीठ के रूप में काम करते हैं और उनके बीच सत्ता का द्वंद चलता है। सत्ता की प्रतिस्पर्धा जब दंगे के रूप में प्रकट होती है तो धर्म की असली विसंगति सामने आती हैं। धर्म आदमी को बेहतर इंसान बनाने के बजाय उसे राक्षस बनाने लगता है।"[13]

सांप्रदायिक दंगे, जो जातीय, नस्लीय, क्षेत्रीय, और भाषाई आधार पर होते हैं, किसी भी देश के लिए चुनौतीपूर्ण होते हैं। दंगे एक ऐसे अराजक वातावरण को पैदा करते हैं और कानून व्यवस्था को कमजोर करके कानून को अपने हाथ में लेते हैं और आपस में भिड़कर समस्याओं का समाधान भी ढूँढ़ने लगते हैं, जो समाज के लिए, देश के लिए अत्यंत घातक होते हैं। रशीदा कहती है कि- "मैं अभी सोचती थी कि हमारे जैसे मोहल्ले में जहां 90 प्रतिशत के लगभग मुसलमान रहते हैं, 10 प्रतिशत हिंदुओं के दिल पर क्या गुजर रही होगी? और आखिर ऐसा क्यों है कि जिस की खाल पर होली का रंग लग जाएगा, वह जहन्नुम हो जाएगा? शादियों में जो हम लोग उबटना खेलते हैं, वह भी तो लगभग होली जैसा ही होता है। और अगर कुछ लोग बुरा मानते हैं, नहीं खेलना चाहते रंग तो लोग उन्हें क्यों नहीं छोड़ देते, एक पर रंग डालना क्या जरूरी है? यह हिंदू-मुस्लिम दंगा है क्या, और क्यों? हमें क्लास में जो सब पढ़ाया गया उसमें शिवाजी की बहादुरी के कारनामें हैं और जो नन्हे चचा बात करते हैं तो शिवाजी 'पहाड़ी चूहा' हो जाते हैं?"[14]

छोटी बच्ची रशीदा का यह मनोविज्ञान भारत के हर उस धर्मनिरपेक्ष मुसलमान का मनोविज्ञान है जो सांप्रदायिक दंगों से अत्यंत परेशान हो उठता है और स्वयं से सवाल पूछने लगता है कि आखिर में ये दंगे क्यों होते हैं और इन दंगों के होने से कुछ लोगों को क्या फायदे मिलते हैं।

स्वतंत्रता आंदोलन के बाद कुछ मुस्लिम नेताओं द्वारा अपने समुदाय के हितों की रक्षा करने के लिए अलगाववादी माँगे की गई। उसे हिंदुओं ने तुष्टिकरण की राजनीति कहा तथा देशभक्ति के खिलाफ माना। मेरे हिसाब से हिंदू-मुसलमानों के मध्य आपसी भाईचारा होने के बाद भी एक गहरा अंतर्विरोध है। अपने एक अन्य उपन्यास 'दास्तान-ए-लापता' में मंजूर एहतेशाम ने भारत विभाजन और नये पाकिस्तान बनाने के मायने को लेकर गंभीर सवाल खड़ा किया है- "पाकिस्तान बनने से इस मुल्क के मुसलमान को फायदा नहीं हुआ? वहीं तमाम सूबेजोड़ या बाँटकर बनाया गया पाकिस्तान, जहां मुसलमानों की वैसे ही अक्सरियत थी? जहां बगैर पाकिस्तान बने भी मुसलमान का हुकुमत में दखल रहता है। बँटवारा न होता तो यह यूपी और बिहार भी इस तरह खराब होने से बच जाते। मिला क्या मुसलमानों को पाकिस्तान के नाम पर? चाँद-तारेवाला यह हरा झंडा जिसे वैसे भी मजारों पर लगाकर दिल बहलाया जा सकता था।"[15]

मंजूर एहतेशाम ने अपने इसी ' सूखा बरगद ' उपन्यास में जमीर अहमद खान का एक धर्मनिरपेक्ष मुसलमान के रूप में चित्रण किया है। उनके बचपन के दोस्त विवेक हिंदू था। इन दोनों में गहरा संबंध था। अलीगढ़ से जब जमीर अहमद खान भोपाल वापस आते हैं तब यह वही दौर रहता है जब 1965 ई0 में भारत पाकिस्तान के मध्य युद्ध होने के उपरांत उनकी विचारधारा को और मुखर कर देता है। अनीशा उनसे बहस भी करती है- "फिर तुम किस तरह की सेक्युलर सोच समझकर दावा करते हो? अपने मजहब पर चलने वालों की क्यों आलोचना करते हुए उन्हें कम-समझ और इंसानियत की राह का रोड़ा कहते हो? खुद तुम्हारी आस्था और अकीदा है कहीं?"[16]

इसका जवाब देते हुए जमीर अहमद खान ने बहुत ही तल्खी से कहा- "मैंने धर्म और मजहब के नाम पर भी जितना कुछ देखा है उसमें किसी प्रकार के ईमान-आस्था की गुंजाइश नहीं। सब कपट और धोखा धड़ी लगता है, अपना-अपना उल्लू सीधा करने की खातिर। मैंने जब भी मजहबी लोगों के खिलाफ कुछ कहा है तो इसी ऐतबार से। लेकिन अगर एक तरफ धर्म को साइंस का रुतबा हासिल नहीं तो दूसरी ओर साइंस को मजहब की तरह जिंदा सच्चाईयों से काटकर परम पावनता का दर्जा देना भी उतना ही गलत है। तो यह भी यकीन करो, मैं नाइहीलिस्ट नहीं हूँ। हाँ एक को नाइहिलिस्ट भी समझने की कोशिश मैं उसी तरह करता हूँ जैसे एक मजहब में आस्था रखने वाले को।"[17] सूखा बरगद एक ही समय में एक ही परिवार की कहानी ,एक समुदाय की त्रासदी और पूरे राष्ट्र के सामने मौजूद सांप्रदायिक - सांस्कृतिक चुनौतियों का एक व्यापक और मार्मिक चित्रण करने का लेखक का उद्देश्य रहा है ।

निष्कर्ष के रूप में देखें तो आजादी के बाद से लेकर उन्नीसवीं दशक तक के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक बदलाव की इसी प्रवृत्ति को मंजूर एहतेशाम ने अपने उपन्यासो में व्यापक संदर्भों में मुस्लिम मध्यवर्ग के जीवन और सोच को चिन्हित किया है। उनकी एक महत्वपूर्ण पात्र रशीदा की तरह त्रासदी भी यही है कि वह अपने जीवन में पत्रकार बनने का स्वप्न देखती है किंतु अंततोगत्वा आकाशवाणी में उद्घोषक हो जाती है। फिर भी वह टूटती नहीं है, सुहेल की तरह बिखरती नहीं है। वह अली हुसैन साहब के शब्दों को सुनकर घबराती भी नहीं और अपने आप को मजहब की सीमाओं में कैद भी नहीं करती है और शिक्षित होने के नाते स्वयं निर्णय भी लेती है तथा विजय से प्रेम भी करती है। उसकी यह सोच भारत में एक मिली-जुली संस्कृति के पल्लवन में अहम भूमिका अदा करती है। शायद मंजूर एहतेशाम ने भी 'बरगद' को 'सुखा' कहकर हमारी सूखने वाले संस्कृति के तरफ ही इशारा किया है कि भारत के बहुसंख्यक लोग देश में रहने वाले अल्पसंख्यक मुसलमान भाइयों का ख्याल रखेंगे तो निश्चित रूप से सूखने वाला बरगद फिर से अपनी जड़ों में खाद पानी महसूस करेगा और उसकी टहनियाँ भारतीय समाज को अपनी संपूर्णता में छाया प्रदान करेगी। इस तरह से मैंने सूखा बरगद उपन्यास की तात्विक समीक्षा की है।

**संदर्भ : सूची -**


1. मंज़ूर एहतेशाम : सूखा बरगद, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2009, पृ. 32
2. वही, पृ. 32
3. वही, पृ. 39
4. वही .पृ .81
5. वही
6. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह : हिंदी-उर्दू: साझा संस्कृति, चंचल चौहान,नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, नई दिल्ली 2010, पृ. 313
7. मंज़ूर एहतेशाम : सूखा बरगद,राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2009, पृ. 34
8. अल्लामा करजावी : इस्लाम मुसलमान और गैर-मुस्लिम, मधुरेश, संदेश संगम, नई दिल्ली, पृ. 05
9. मंज़ूर एहतेशाम : बशारत मंजिल, राजकमल प्रकाशन 2012, पृ. 48
10. वही, पृ. 52
11. अभय कुमार दूबे : बीच बहस में सेक्युलरवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 110002, 2005, पृ. 54-55
12. मंज़ूर एहतेशाम : सूखा बरगद, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2009, पृ. 43
13. राजकिशोर : भारतीय मुसलमान मिथक और यथार्थ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 110002, 2004, पृ. 43- 44
14. मंज़ूर एहतेशाम : सूखा बरगद, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2009, पृ. 44
15. मंज़ूर एहतेशाम : दास्तान-ए-लापता, राजकमल प्रकाशन, 2010, पृ. 89
16. वही, पृ. 139
17. वही, पृ. 139

# मीरजापुर जनपद की कला परम्परा

**प्रभाश दूबे***

जिस प्रकार प्रकृति मानव की आदि सहचरी है, उसी प्रकार कला भी। क्योंकि प्रकृति ईश्वर की अभिव्यक्ति है और ईश्वरी सृष्टि का आधार कला ही है। यहीं कारण है कि मनुष्य जन्म से ही कला–प्रेमी होता है। जहॉ तक मीरजापुर क्षेत्र की कला का संदर्भ है, यह क्षेत्र आदिकाल से ही कला का केन्द्र रहा है। आदिम अवस्था में भी यहॉ का मानव जब गुफाओं में रहता था, तब भी उसमें कला के प्रति अत्यधिक गहरी प्रेम थी, जिसका साक्ष्य प्रागैतिहासिक काल के चित्रित शैलाश्रयों से प्राप्त होता है। मीरजापुर जनपद में भी मानव द्वारा मिट्टी के खिलौने, मिट्टी के बर्तन आदि अनेक प्रकार के कलाओं का साक्ष्य प्राप्त होता है। यहॉ पर धातु युग में कला के विकसित रूप सामने आने लगे थे तथा मनुष्य ने लौह उपकरणों का प्रयोग करना आरम्भ किया तो उसके कला में और भी निखार आया एवं कला के साथ–साथ मनुष्य की धार्मिक अभिरूचियों में भी अभिवृद्धि होने लगी। परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के धार्मिक मूर्तियॉ बनने लगीं और आगे चलकर इन मूर्तियों की स्थापना के लिए मंदिर वास्तु का निर्माण भी होने लगा।

अतः यहॉ परम्परागत कलात्मक अभिरूचि के परिप्रेक्ष्य में कला को मुख्यतः तीन भागों में विभक्त करने का प्रयास किया गया है:–

1. **चित्रकला**
2. **मूर्तिकला**
3. **वास्तुकला**

**1. चित्रकला :–**

सृष्टि के प्रति जिज्ञासा मानव की सहज, स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। मनुष्य अपने आस–पास जो देखता है, अनुभव करता है, उसके बारे में तमाम बातें जानना चाहता है। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आदिमानव में भी अपने आस–पास की जिन्दगी के बारे में जानने की जिज्ञासा रही होगी।

मीरजापुर क्षेत्र में चित्रकला की परम्परा प्रागैतिहासिक काल से ही गुहाचित्रों के रूप में चली आ रही है। विन्ध्य एवं कैमूर की घाटियों में बड़ी संख्या में प्रागैतिहासिक काल से ऐतिहासिक काल तक के शैलाश्रित गुहाचित्रों के साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। अधिकतर चित्रकला सोन और बेलन नदी की घाटियों तथा नालों, झरनों से सम्बन्धित पहाड़ियों और गुफाओं में बने हुए हैं तथा गुहाचित्र करमनाशा, जरगो, विंढम आदि नदियों के किनारे भी मिलते हैं। अनेकों विद्वानों द्वारा किए गए सर्वेक्षणों के फलस्वरूप इस जनपद में अब तक लगभग 200 से अधिक चित्रित शैलाश्रय प्रकाश में आ चुके हैं। इस क्षेत्र की चित्रकला शैली में प्रमुख रूप से पूरक शैली, अर्द्धपूरक शैली, अलंकृत शैली, रेखा शैली, क्षेपांकन शैलियॉ इत्यादि प्राप्त होती हैं। यहॉ पर नर–नारियों, जीवाकृतियों, आखेट, युद्ध आदि से सम्बन्धित चित्र भी बड़ी संख्या में गुफाओं में पाये गये हैं। ''चनाइनमान'' और ''केरवाघाट'' की गुफाओं में मिले चित्रों से यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में जो चित्र बनाए गये थे, बाद में वे मिटने लगे तो उन पर दूसरे प्रकार के चित्र पुनः बना दिये गये। इस प्रकार के दोबारा बनाए गये चित्र प्रायः कत्थई रंग के बने हुए हैं, इन चित्रों को दोहरे या पुनर्लेखन शैली का चित्र कहा जा सकता है।

**2. मूर्तिकला :–**

मीरजापुर जनपद में प्रारम्भिक मूर्तिकला के साक्ष्य मुख्य रूप से हमें मौर्यकाल से ही मिलने लगते हैं। सम्राट अशोक के द्वारा धर्म प्रचार के निमित्त तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व में दूर–दूर तक स्थापित कराये गये प्रस्तर–स्तम्भ लेख मीरजापुर क्षेत्र की बलुआ पत्थर की खदानों से निकाले गये हैं। हमारे देश का राष्ट्रीय प्रतीक सारनाथ का अशोक स्तम्भ इसी पत्थर पर तराशा गया है जो अद्भुत कला मानक का उदाहरण है। चुनार के निकट भी ऐसे अनेक साक्ष्य प्राप्त हुए हैं। उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्व संगठन विभाग द्वारा मीरजापुर क्षेत्र में चलाए जा रहे ग्रामस्तरीय सर्वेक्षण से अगियाबीर तथा परमानपुर से अनेक प्रस्तर मूर्तियों के साक्ष्य

* शोध छात्र, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, सल्तनत बहादुर पी.जी. कॉलेज, बदलापुर, जौनपुर सम्बद्ध वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर

प्रकाश में आये हैं जो सम्भवतः इस क्षेत्र की सर्वप्राचीन मूर्तियों का प्रमाण देती हैं। इस संदर्भ में अगियाबीर के लूटाबीर मंदिर से प्राप्त 20 सेमी0 और 14 सेमी0 चौड़ा एक भग्न मूर्ति का शीर्ष भाग उल्लेखनीय है।

इस जनपद से पांचवीं–छठवीं शताब्दी ईश्वी में निर्मित गुप्तकालीन मूर्तिकला में ''बटउऑ'' से मिली बुद्ध की स्थानीय प्रस्तर प्रतिमा ''गोगॉव'' से नागराज प्रस्तर प्रतिमा तथा चुनार दुर्ग की चट्टानों पर उकेरित विष्णु एवं सूर्य की प्रतिमा तत्कालीन कला में धार्मिक मान्यताओं की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। मीरजापुर जिला मुख्यालय से लगभग 08 किमी0 दूर मीरजापुर–चुनार मार्ग पर बर्जी मुकुन्दपुर गॉव से थोड़ा पहले प्राप्त विश्वरूप विष्णु की प्रस्तर प्रतिमा अपनी शैली एवं विषयवस्तु के कारण उल्लेखनीय है तथा बर्जी मुकुन्दपुर से ही प्राप्त चतुर्भुज नटराज शिव की मूर्ति भी उल्लेखनीय है।

**3. वास्तुकला :–**

मीरजापुर क्षेत्र में वास्तुकलाओं का भी महत्वपूर्ण स्थान है। अनेक सर्वेक्षणों के बाद यहॉ के हरना–खुरी से प्राप्त ईष्टिका वास्तु के अवशेष जिसे शुंग–कुषाणकालीन माना जा सकता है तथा दुबरा एवं रायपुर पोख्ता ग्राम से लगभग नवीं शताब्दी ईश्वी में निर्मित वर्तमान में गौरी– शंकर नाम से प्रसिद्ध ईष्टिका मंदिर वास्तु प्रकाश में आया है। अगियाबीर से भी प्राप्त शुंग–कुषाणकालीन पक्की ईंटों से निर्मित 11 कक्षीय आवास भी उल्लेखनीय है। साथ ही इस आवास के चतुर्दिक पक्की ईंटों से निर्मित एक दीवार भी प्रकाश में आई है। अगियाबीर की विशालता एवं लाक्षणिक विशेषता को देखकर सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि शुंग–कुषाणकाल में यहॉ पक्की ईंटों से निर्मित वृहद् क्षेत्र में स्थित आवासीय स्थल फैला रहा होगा।

उत्तर प्रदेश राज्य पुरातत्व विभाग द्वारा कराये गये सर्वेक्षणों के फलस्वरूप सम्पूर्ण मीरजापुर क्षेत्र में अनेक बिखरे पड़े, पूर्व–मध्य कालीन प्रस्तर देवालयों के ध्वन्सावशेष प्राप्त किये गये हैं तथा ''बरडीहाखुर्द'' और ''बटउऑ'' ग्रामों के सातवीं–आठवीं शताब्दी ईश्वी में निर्मित लतिनशैली तथा वर्तमान सोनभद्र जिले में आठवीं–नौवीं शताब्दी ईश्वी के पीढ़ाशैली और मन्डरा गॉव में स्थापित लगभग 12वीं शताब्दी ईश्वी के प्रस्तर देवालयों के अवशेषों के साक्ष्य प्राप्त होते हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि मीरजापुर क्षेत्र के लोग मंदिर निर्माण के पूर्व से ही आवासीय वास्तु के रूप में भवन निर्माण की कला से परिचित थे, जिसकी पुष्टि अगियाबीर तथा अनेक पुरातात्विक स्थल के पुरातात्विक उत्खनन से होती है। इस प्रकार मीरजापुर क्षेत्र चित्रकला, मूर्तिकला एवं वास्तुकला के दृष्टिकोण से प्राचीनकाल से ही अत्यन्त समृद्धशाली रहा है।

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –**

जायसवाल, के०पी० : एन इम्पीरियल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (700 बी०सी०–7००ए.डी.), (संस्कृत पाठ) राहुल सांकृत्यायन द्वारा संशोधि, लाहौर, 1934

जायसवाल, विदुला : फ्रॉम स्टोन क्वैरी टू स्कल्पचरिंग वर्कशाप, अगम कला प्रकाशन, दिल्ली, 1998

जोशी, एन०पी० : ब्राह्मनिकल स्कल्पचर्स इन द स्टेट म्यूजियम, लखनऊ, 1989

तिवारी, राकेश : रॉक पेंटिंग्स ऑफ मिर्जापुर, यू० पी० स्टेट आर्कियोलॉजिकल ऑर्गनाइजेशन, रोशन–उद्दौला कोठी, कैसरबाग, लखनऊ, 1990

त्रिपाठी, आर०एस० : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, टू द मुस्लिम कांक्वेस्ट, इण्डियन बुक शॉप, बनारस, 1937

चपलयाल, के०के० : स्टडीज इन ऐशियेंट इण्डियन सील्स, ए स्टडी ऑफ नार्थ इण्डियन सील्स एण्ड सीलिंग्स फ्रॉम वर्ड सेन्चुरी बी०सी० टू मिड सैन्युरी ए०डी०, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ, 1972

देव, कृष्णः टेम्पल ऑफ इण्डिया, वॉ. I एण्ड II, आर्यन बुक्स इण्टरनेशनल, नई दिल्ली, 1995

नायक, टी०वी० : इम्पैक्ट ऑफ एजूकेशन ऑन व भील्स, दिल्ली, 1969

नारायण ए०के० एण्ड : एक्सकैवेशंस एट प्रहलादपुर, बी०एच०यू०, वाराणसी, 1968

टी०एन० राय : एक्सकैवेशंस एट राजघाट, पार्ट III, बी०एच०यू, वाराणसी, 1977

नियोगी, आर० : द हिस्ट्री ऑफ गहड़वाल डायनेस्टी, कलकत्ता, 1959

◀◀ ▶▶

# भारतीय ज्ञान परम्परा के आलोक में समकालीन कौशल–आधारित शिक्षा का विश्लेषणात्मक अध्ययन

डॉ. दिनेश सिंह*

**सारांश**

प्रस्तुत शोध भारतीय ज्ञान परम्परा के आलोक में समकालीन कौशल-आधारित शिक्षा का एक विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा को केवल आजीविका का साधन न मानकर व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का माध्यम माना गया है, जहाँ ज्ञान, कौशल, नैतिकता एवं सामाजिक दायित्व का समन्वय स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। वेद, उपनिषद, शिल्पशास्त्र तथा गुरु-शिष्य परम्परा में निहित शिक्षा-दृष्टि आज भी प्रासंगिक मानी जा सकती है। वर्तमान समय में कौशल-आधारित शिक्षा मुख्यतः रोजगारोन्मुखता, तकनीकी दक्षता एवं प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता पर केंद्रित हो गई है, जिसके परिणामस्वरूप मानवीय मूल्य एवं सांस्कृतिक चेतना अपेक्षाकृत कम महत्व पा रहे है। यह अध्ययन इस तथ्य को रेखांकित करता है कि यदि समकालीन कौशल-आधारित शिक्षा को भारतीय ज्ञान परम्परा के मूल तत्वों-जैसे कर्मयोग, स्वावलंबन, लोककल्याण एवं नैतिक अनुशासन से जोड़ा जाए, तो शिक्षा अधिक संतुलित एवं समाजोपयोगी बन सकती है। शोध से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय ज्ञान परम्परा आधुनिक कौशल शिक्षा को केवल व्यावहारिक ही नहीं, बल्कि जीवनोपयोगी एवं मूल्यनिष्ठ स्वरूप प्रदान कर सकती है, जिससे एक जिम्मेदार, सृजनशील तथा आत्मनिर्भर नागरिक का निर्माण संभव है। प्रस्तुत अध्ययन में गुणात्मक शोध-पद्धति का प्रयोग किया गया है।

**मुख्य शब्द :** भारतीय ज्ञान परम्परा, कौशल-आधारित शिक्षा, नैतिक अनुशासन, मानवीय मूल्य, सांस्कृतिक चेतना, लोककल्याण।

**प्रस्तावना**

इक्कीसवीं शताब्दी का वर्तमान समय तीव्र सामाजिक, आर्थिक एवं तकनीकी परिवर्तनों का साक्षी है। वैश्वीकरण, डिजिटलीकरण तथा औद्योगिक प्रतिस्पर्धा के प्रभाव में शिक्षा की भूमिका निरंतर परिवर्तित हो रही है। आज शिक्षा से यह अपेक्षा की जाती है कि वह केवल सैद्धांतिक ज्ञान प्रदान करने तक सीमित न रहे, बल्कि व्यक्ति को ऐसे व्यावहारिक कौशल भी प्रदान करे, जिनके माध्यम से वह आजीविका अर्जन के साथ-साथ समाज में उपयोगी योगदान दे सके। इसी संदर्भ में समकालीन शिक्षा व्यवस्था में कौशल-आधारित शिक्षा को विशेष महत्व दिया जा रहा है। तथापि, यह भी देखा जा रहा है कि इस कौशल-केंद्रित दृष्टिकोण में मानवीय मूल्य, नैतिकता तथा सांस्कृतिक चेतना का स्थान अपेक्षाकृत सीमित होता जा रहा है, जो शिक्षा के व्यापक उद्देश्य पर प्रश्न खड़े करते है।

भारतीय ज्ञान परम्परा शिक्षा को सदैव जीवनोन्मुख और समाजोपयोगी दृष्टि से देखती रही है। प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य केवल विद्या अर्जन नहीं था, बल्कि व्यक्ति के सर्वांगीण विकास को सुनिश्चित करना था। शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक पक्षों का संतुलित विकास भारतीय शिक्षा-दर्शन की मूल विशेषता रही है। गुरु-शिष्य परम्परा में ज्ञान का हस्तांतरण अनुभव, आचरण और अभ्यास के माध्यम से होता था, जिसमें कौशल-विकास स्वाभाविक रूप से सम्मिलित रहता था। शिल्पकला, कृषि, वास्तुकला, चिकित्सा तथा

* असिस्टेंट प्रोफेसर, प्रेम चन्द्र कॉलेज, सोनी, रमईपुर, प्रयागराज। dineshsingh25yadav@gmail.com

संगीत जैसे क्षेत्रों में दिया जाने वाला प्रशिक्षण इस बात का प्रमाण है कि भारतीय ज्ञान परम्परा में कौशल को सामाजिक दायित्व और लोककल्याण से जोड़ा गया था।

वर्तमान समय की कौशल-आधारित शिक्षा मुख्यतः रोजगारोन्मुखता और आर्थिक उत्पादकता पर आधारित है। उद्योगों की आवश्यकताओं के अनुरूप प्रशिक्षित मानव संसाधन तैयार करना इसका प्रमुख लक्ष्य माना जाता है। इस प्रक्रिया में दक्षता, गति तथा तकनीकी ज्ञान को तो प्राथमिकता दी जाती है, परंतु मूल्यबोध, संवेदनशीलता और सामाजिक उत्तरदायित्व जैसे तत्व प्रायः हाशिये पर चले जाते है। परिणामस्वरूप शिक्षा एक यांत्रिक प्रक्रिया बनती प्रतीत होती है, जहाँ व्यक्ति को केवल कार्य-निष्पादन की इकाई के रूप में देखा जाता है। यह स्थिति दीर्घकाल में न तो समाज के लिए लाभकारी सिद्ध हो सकती है और न ही मानव विकास की समग्र अवधारणा के अनुरूप है।

भारतीय ज्ञान परम्परा इस संदर्भ में एक संतुलित एवं मानवीय दृष्टि प्रस्तुत करती है। कर्मयोग, कर्तव्यबोध, स्वावलंबन तथा सामाजिक समरसता जैसी अवधारणाएँ कौशल को केवल व्यक्तिगत लाभ तक सीमित नहीं रखती, बल्कि उसे समाज के हित से जोड़ती है। इस परम्परा में यह स्वीकार किया गया है कि कौशल तभी सार्थक होता है, जब उसका उपयोग नैतिक मर्यादाओं के अंतर्गत लोककल्याण हेतु किया जाए। यदि समकालीन कौशल-आधारित शिक्षा इस दृष्टि को अपनाए, तो वह केवल रोजगार सृजन का साधन न रहकर चरित्र निर्माण और सामाजिक उत्तरदायित्व का माध्यम भी बन सकती है।

अतः भारतीय ज्ञान परम्परा के आलोक में समकालीन कौशल-आधारित शिक्षा का विश्लेषण अत्यंत आवश्यक प्रतीत होता है। यह अध्ययन इस तथ्य को रेखांकित करने का प्रयास करता है कि प्राचीन भारतीय बौद्धिक विरासत आज की शिक्षा-व्यवस्था को अधिक संतुलित, मूल्यनिष्ठ और मानवीय दिशा प्रदान कर सकती है। कौशल-विकास और मूल्यबोध के समन्वय से ही ऐसी शिक्षा संभव है, जो व्यक्ति को दक्ष कार्यकर्ता के साथ-साथ जागरूक और उत्तरदायी नागरिक भी बना सके। इसी पृष्ठभूमि में प्रस्तुत अध्ययन का महत्व स्थापित होता है, जो शिक्षा के व्यापक सामाजिक उद्देश्य को पुनः केंद्र में लाने का प्रयास करता है।

**अध्ययन के उद्देश्य**

1. भारतीय ज्ञान परम्परा की अवधारणा, उसके स्वरूप तथा मूल तत्वों का अध्ययन एवं विश्लेषण करना।
2. समकालीन कौशल-आधारित शिक्षा की अवधारणा, प्रकृति एवं वर्तमान स्वरूप को स्पष्ट करना।
3. भारतीय ज्ञान परम्परा और समकालीन कौशल-आधारित शिक्षा के मध्य समानताओं एवं भिन्नताओं का तुलनात्मक विश्लेषण करना।
4. भारतीय ज्ञान परम्परा के आलोक में समकालीन कौशल-आधारित शिक्षा हेतु संभावित समाधानों एवं भावी संभावनाओं का विश्लेषण करना।

**भारतीय ज्ञान परम्परा की अवधारणा**

भारतीय ज्ञान परम्परा की अवधारणा अत्यंत प्राचीन, व्यापक तथा जीवनोन्मुख मानी जाती है। यह परम्परा ज्ञान को केवल बौद्धिक जानकारी या तथ्यों के संचय के रूप में स्वीकार नहीं करती, बल्कि उसे व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन से जोड़कर देखती है। भारतीय दृष्टि में ज्ञान का उद्देश्य केवल तर्क-वितर्क या विषयगत दक्षता प्राप्त करना नहीं था, बल्कि आत्मबोध, आचरण की शुद्धता तथा समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना का विकास करना भी था।[1] इसीलिए यहाँ ज्ञान, कर्म और मूल्य के मध्य एक गहरा संबंध स्थापित किया गया, जो शिक्षा को जीवन से पृथक नहीं होने देता है।

भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा को निरंतर चलने वाली प्रक्रिया के रूप में देखा गया है। बाल्यावस्था से लेकर जीवन के उत्तरार्ध तक ज्ञानार्जन को आवश्यक माना गया, जिसमें अनुभव और अभ्यास का विशेष महत्व रहा है। गुरु-शिष्य परम्परा इस व्यवस्था का आधार बनी, जहाँ शिक्षण केवल पाठ्यवस्तु तक सीमित नहीं

रहा, बल्कि संवाद, अनुकरण और जीवन-पद्धति के माध्यम से सम्पन्न होता था।[2] गुरु का स्थान केवल शिक्षक का नहीं, बल्कि मार्गदर्शक और नैतिक आदर्श का भी होता था। इसी कारण शिक्षा में अनुशासन, विनम्रता, कर्तव्यबोध तथा सामाजिक आचरण पर विशेष बल दिया गया है।

इस परम्परा की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि इसमें श्रम और कौशल को हीन नहीं समझा गया। कृषि, शिल्प, कला, चिकित्सा, वास्तु तथा संगीत जैसे क्षेत्रों में व्यावहारिक ज्ञान का विकास समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप किया गया।[3] कौशल-विकास को केवल आजीविका का साधन न मानकर लोककल्याण और सामाजिक संतुलन से जोड़ा गया, जिससे कार्य का स्वरूप पवित्र और सम्मानजनक माना जाता था। ज्ञान और कर्म के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं दिखाई देता, बल्कि दोनों को एक-दूसरे का पूरक स्वीकार किया गया है।

भारतीय ज्ञान परम्परा में नैतिकता और मूल्यबोध का विशेष स्थान रहा है। सत्य, अहिंसा, सहयोग और आत्मसंयम जैसे मूल्य शिक्षा की आधारभूमि में निहित थे। ज्ञान का अंतिम उद्देश्य भौतिक उन्नति से आगे बढ़कर आंतरिक शुद्धि और सामाजिक सद्भाव स्थापित करना था।[4] वर्तमान समय में, जब शिक्षा अधिकतर उपयोगिता और प्रतिस्पर्धा तक सीमित होती जा रही है, तब भारतीय ज्ञान परम्परा की यह अवधारणा अधिक प्रासंगिक हो जाती है, क्योंकि यह ज्ञान को जीवन के संतुलन और सामाजिक हित से जोड़ने की बात करती है।

**समकालीन कौशल-आधारित शिक्षा की अवधारणा**

समकालीन कौशल-आधारित शिक्षा की अवधारणा वर्तमान समय की सामाजिक, आर्थिक तथा तकनीकी परिस्थितियों से गहन रूप से जुड़ी हुई मानी जाती है। वैश्वीकरण और तीव्र तकनीकी विकास के कारण कार्य-जगत की संरचना में निरंतर परिवर्तन हो रहे है, जिसके परिणामस्वरूप शिक्षा से यह अपेक्षा बढ़ी है कि वह विद्यार्थियों को ऐसे व्यावहारिक कौशल प्रदान करे, जो उन्हें बदलती रोजगार आवश्यकताओं के अनुरूप सक्षम बना सके।[5] इस दृष्टि से कौशल-आधारित शिक्षा को एक ऐसी शिक्षा-व्यवस्था के रूप में देखा जाता है, जहाँ सैद्धांतिक ज्ञान के साथ-साथ कार्यकौशल, दक्षता और अनुप्रयोग को विशेष महत्व दिया जाता है।

समकालीन संदर्भ में कौशल-आधारित शिक्षा का मुख्य लक्ष्य रोजगारोन्मुख मानव संसाधन का विकास करना माना जाता है। इसके अंतर्गत तकनीकी प्रशिक्षण, व्यावसायिक दक्षता, संचार कौशल, समस्या-समाधान क्षमता तथा नवाचार जैसे पहलुओं पर विशेष बल दिया जाता है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में संचालित विभिन्न प्रशिक्षण कार्यक्रम, व्यावसायिक पाठ्यक्रम और कौशल विकास योजनाएँ इसी दृष्टिकोण को प्रतिबिंबित करती है।[6] इस शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों को केवल विषयगत जानकारी तक सीमित न रखकर उन्हें वास्तविक कार्यस्थल की परिस्थितियों से परिचित कराना होता है, जिससे वे आत्मनिर्भर बन सके और आर्थिक रूप से सशक्त हो पाए।

कौशल-आधारित शिक्षा की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि इसमें उद्योग और बाजार की आवश्यकताओं को पाठ्यक्रम निर्माण का आधार बनाया जाता है। शिक्षा और रोजगार के मध्य की दूरी को कम करना इसका एक महत्वपूर्ण लक्ष्य माना जाता है। इसके लिए व्यावहारिक प्रशिक्षण, इंटर्नशिप, परियोजना कार्य तथा अनुभव आधारित अधिगम जैसी विधियों को अपनाया जाता है।[7] इन माध्यमों से विद्यार्थियों में समय-प्रबंधन, कार्यकुशलता और समूह में कार्य करने जैसे गुणों का विकास किया जाता है। तथापि, यह भी देखा गया है कि इस प्रक्रिया में कई बार शिक्षा का मूल्यपरक और मानवीय पक्ष अपेक्षित महत्व नहीं पा पाता है।[8]

समकालीन कौशल-आधारित शिक्षा में प्रतिस्पर्धा, दक्षता और उत्पादकता को अत्यधिक प्राथमिकता दिए जाने के कारण शिक्षा का उद्देश्य अक्सर तात्कालिक रोजगार प्राप्ति तक सीमित हो जाता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक उत्तरदायित्व, नैतिकता और सांस्कृतिक संवेदनशीलता जैसे तत्व गौण हो जाते है। इस प्रकार यह

स्पष्ट होता है कि कौशल-आधारित शिक्षा यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी है, परंतु इसके संतुलित और समग्र विकास के लिए इसमें मूल्यबोध और सामाजिक दृष्टि का समावेश किया जाना आवश्यक है।

**भारतीय ज्ञान परम्परा और कौशल शिक्षा का तुलनात्मक विश्लेषण**

भारतीय ज्ञान परम्परा और समकालीन कौशल शिक्षा का तुलनात्मक विश्लेषण करने पर यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि दोनों की वैचारिक पृष्ठभूमि, उद्देश्य तथा कार्यविधि में स्पष्ट अंतर दिखाई देता है, तथापि कुछ स्तरों पर इनके बीच सामंजस्य भी परिलक्षित होता है। भारतीय ज्ञान परम्परा में शिक्षा को जीवन से पृथक न मानकर उसके स्वाभाविक अंग के रूप में स्वीकार किया गया है, जहाँ ज्ञान और कौशल का उद्देश्य केवल आजीविका अर्जन न होकर व्यक्ति के नैतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक विकास से भी संबंधित रहा है। इसके विपरीत समकालीन कौशल शिक्षा मुख्यतः औद्योगिक संरचना, बाजार की आवश्यकताओं और रोजगारोन्मुख दक्षताओं पर केंद्रित दिखाई देती है, जिसके कारण शिक्षा का दायरा अपेक्षाकृत संकीर्ण हो जाता है।

भारतीय ज्ञान परम्परा में कौशल का अर्जन अनुभव, अभ्यास और गुरु के सान्निध्य में होता था। शिल्प, कृषि, चिकित्सा, कला और वास्तुकला जैसे क्षेत्रों में कौशल को समाज की वास्तविक आवश्यकताओं और लोककल्याण से जोड़ा गया था। यहाँ कौशल का महत्व व्यक्तिगत लाभ से अधिक सामाजिक संतुलन और सामूहिक हित के लिए माना जाता था। इसके विपरीत आधुनिक कौशल शिक्षा में कौशल को प्रायः एक आर्थिक संसाधन के रूप में देखा जाता है, जहाँ दक्षता का मूल्यांकन उत्पादकता, गति और प्रतिस्पर्धा के आधार पर किया जाता है। इस प्रक्रिया में मानवीय संबंध और सामाजिक सरोकार कई बार गौण हो जाते है।

भारतीय ज्ञान परम्परा की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि उसमें ज्ञान और कर्म के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं था। सैद्धांतिक ज्ञान और व्यावहारिक कौशल को एक-दूसरे का पूरक माना गया, जिससे शिक्षा का स्वरूप समग्र बन सका। इसके साथ ही मूल्यबोध, अनुशासन और सामाजिक उत्तरदायित्व शिक्षा की अन्तर्निहित विशेषताएँ रही है। इसके विपरीत समकालीन कौशल शिक्षा में सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों को प्रायः अलग-अलग विकसित किया जाता है। तकनीकी दक्षता को तो पर्याप्त महत्व दिया जाता है, परंतु नैतिकता, सांस्कृतिक चेतना और सामाजिक संवेदनशीलता अपेक्षित स्थान नहीं पा पाती है।

दोनों दृष्टियों में एक समानता यह भी है कि दोनों शिक्षा को जीवनोपयोगी बनाना चाहती है। जहाँ भारतीय ज्ञान परम्परा जीवन की सम्पूर्णता और संतुलन पर बल देती है, वहीं समकालीन कौशल शिक्षा आत्मनिर्भरता और रोजगार को प्राथमिकता देती है। अंतर यह है कि भारतीय परम्परा में आत्मनिर्भरता सामाजिक उत्तरदायित्व से जुड़ी हुई थी, जबकि आधुनिक व्यवस्था में यह अधिकतर व्यक्तिगत सफलता तक सीमित रह जाती है। इस तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यदि समकालीन कौशल शिक्षा भारतीय ज्ञान परम्परा के मानवीय और मूल्यपरक तत्वों को आत्मसात करे, तो शिक्षा अधिक संतुलित, उद्देश्यपूर्ण और समाजोपयोगी बन सकती है।

**भारतीय ज्ञान परम्परा के आलोक में समाधान एवं संभावनाएँ**

भारतीय ज्ञान परम्परा के आलोक में समकालीन शिक्षा विशेषकर कौशल-आधारित शिक्षा की समस्याओं के समाधान तथा उसकी भावी संभावनाओं को समझा जा सकता है। भारतीय ज्ञान परम्परा शिक्षा को केवल तकनीकी दक्षता या व्यावसायिक क्षमता तक सीमित नहीं मानती, बल्कि उसे व्यक्ति के नैतिक, सामाजिक और बौद्धिक विकास से जोड़कर देखती है। इस दृष्टि को अपनाने से कौशल शिक्षा के वर्तमान स्वरूप में व्याप्त असंतुलन को काफी हद तक दूर किया जा सकता है। शिक्षा तब अधिक सार्थक प्रतीत होती है, जब वह जीवन से सीधे रूप में जुड़ती है और समाज की आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखती है।

भारतीय ज्ञान परम्परा समाधान के रूप में यह संकेत प्रदान करती है कि ज्ञान और कर्म के मध्य संतुलन बनाए रखना आवश्यक है। कौशल-विकास को केवल तकनीकी प्रशिक्षण तक सीमित कर देना शिक्षा के

उद्देश्य को संकुचित कर देता है। यदि कौशल शिक्षा में नैतिकता, अनुशासन और सामाजिक दायित्व के तत्वों को सम्मिलित किया जाए, तो शिक्षा अधिक मानवीय और उद्देश्यपूर्ण बन सकती है। गुरु-शिष्य परम्परा से प्रेरित शिक्षण प्रक्रिया में संवाद, अनुभव और अभ्यास को विशेष महत्व दिया जाता था, जिससे शिक्षार्थी में केवल दक्षता ही नहीं, बल्कि विवेक और संवेदनशीलता का भी विकास होता था। इस दृष्टि को आधुनिक संदर्भ में अपनाना एक सार्थक समाधान हो सकता है।

भारतीय ज्ञान परम्परा स्थानीय ज्ञान और पारंपरिक कौशलों के संरक्षण तथा संवर्धन पर विशेष बल देती है। कृषि, हस्तशिल्प, लोककला और पारंपरिक चिकित्सा जैसे क्षेत्रों में निहित कौशल आज भी प्रासंगिक माने जा सकते है, बशर्ते उन्हें आधुनिक विज्ञान और तकनीक से जोड़ा जाए। इससे रोजगार के नए अवसर उत्पन्न हो सकते है और आत्मनिर्भरता को बढ़ावा मिल सकता है। साथ ही, इससे सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक निरंतरता भी सुरक्षित रहती है, जो वर्तमान समय में एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है।

भावी संभावनाओं के रूप में यह कहा जा सकता है कि यदि कौशल-आधारित शिक्षा में भारतीय ज्ञान परम्परा के मूल्यपरक तत्वों को समुचित स्थान दिया जाए, तो शिक्षा अधिक समावेशी और दीर्घकालिक दृष्टि वाली बन सकती है। शिक्षा नीति, पाठ्यक्रम निर्माण और शिक्षण विधियों में इस दृष्टिकोण को अपनाने से न केवल दक्ष कार्यकर्ता, बल्कि नैतिक, जिम्मेदार और सामाजिक रूप से जागरूक नागरिकों का निर्माण संभव है।[9] इस प्रकार भारतीय ज्ञान परम्परा के आलोक में कौशल शिक्षा आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक और मानवीय विकास की दिशा में भी महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है।

**निष्कर्ष एवं सुझाव**

प्रस्तुत अध्ययन के निष्कर्ष स्वरूप यह तथ्य स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आता है कि समकालीन कौशल-आधारित शिक्षा वर्तमान सामाजिक, आर्थिक एवं औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है, परंतु इसका स्वरूप यदि केवल रोजगार, दक्षता और उत्पादकता तक ही सीमित रह जाता है, तो शिक्षा के व्यापक और मानवीय उद्देश्य अधूरे ही रह जाते है। भारतीय ज्ञान परम्परा इस संदर्भ में एक ऐसी समग्र दृष्टि प्रस्तुत करती है, जिसमें शिक्षा को जीवन-निर्माण, चरित्र-निर्माण और समाज-निर्माण की प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है। अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि भारतीय ज्ञान परम्परा में निहित कर्मयोग, कर्तव्यबोध, लोककल्याण और स्वावलंबन की अवधारणाएँ समकालीन कौशल शिक्षा को मूल्यपरक और संतुलित स्वरूप प्रदान कर सकती है।

यह भी परिलक्षित होता है कि वर्तमान कौशल-आधारित शिक्षा व्यवस्था प्रायः बाजार और उद्योग की मांगों से संचालित हो रही है, जिसके परिणामस्वरूप नैतिकता, सामाजिक उत्तरदायित्व और सांस्कृतिक चेतना जैसे तत्वों की उपेक्षा होती दिखाई देती है। इस अध्ययन के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि जब कौशल-विकास को भारतीय ज्ञान परम्परा के मूल तत्वों से जोड़ा जाता है, तब शिक्षा केवल कार्यकुशल मानव संसाधन तैयार करने तक सीमित न रहकर सजग, संवेदनशील और उत्तरदायी नागरिकों के निर्माण में भी सहायक बनती है। इस दृष्टि से भारतीय ज्ञान परम्परा आधुनिक शिक्षा के लिए एक वैचारिक आधार प्रदान करती है, जो शिक्षा को केवल आजीविका का साधन न मानकर जीवन-मूल्यों के संवाहक के रूप में देखती है।

अध्ययन के निष्कर्षों के आधार पर यह सुझाव दिया जा सकता है कि समकालीन कौशल-आधारित शिक्षा के पाठ्यक्रमों में भारतीय ज्ञान परम्परा से जुड़े तत्वों को समुचित स्थान दिया जाना आवश्यक है, ताकि विद्यार्थियों में नैतिकता, आत्मनिर्भरता और सामाजिक प्रतिबद्धता का विकास हो सके। शिक्षण प्रक्रिया में अनुभव आधारित अधिगम, स्थानीय ज्ञान और पारंपरिक कौशलों को महत्व दिया जाना चाहिए, जिससे शिक्षा जीवन से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ सके। इसके साथ ही शिक्षकों की भूमिका को केवल कौशल प्रशिक्षक तक सीमित न रखते हुए उन्हें पथप्रदर्शक और मूल्यसंवाहक के रूप में विकसित करने की आवश्यकता है। शिक्षा नीति और

शैक्षिक संस्थानों को यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कौशल शिक्षा का उद्देश्य केवल तात्कालिक रोजगार न होकर दीर्घकालिक सामाजिक और मानवीय विकास भी हो। इस प्रकार भारतीय ज्ञान परम्परा और समकालीन कौशल-आधारित शिक्षा का समन्वय एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था की ओर संकेत करता है, जो व्यावहारिक होने के साथ-साथ मूल्यनिष्ठ और समाजोपयोगी भी हो सके।

**Reference**


1. NCERT. *भारतीय ज्ञान परम्परा का परिचय.* https://ncert.nic.in/indian-knowledge-system.php
2. Radhakrishnan, S. *Indian Philosophy*. https://archive.org/details/indianphilosophyvol1
3. Ministry of Education, Government of India. *Indian Knowledge Systems (IKS)*. https://iksindia.org
4. Sen, A. *Development as Freedom*. https://books.google.com/books/about/Development_as_Freedom.html
5. UNESCO. *Learning: The Treasure Within (Delors Report)*. https://unesdoc.unesco.org/ark:/48223/pf0000109590
6. Ministry of Skill Development and Entrepreneurship, Govt. of India. *Skill India Mission*. https://www.msde.gov.in
7. World Economic Forum. *Future of Jobs Report*. https://www.weforum.org/reports
8. UNESCO. *Education for Sustainable Development*. https://en.unesco.org/themes/education-sustainable-development
9. National Education Policy (NEP) 2020. Government of India. https://www.education.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/NEP_Final_English_0.pdf

# घरेलू महिलाओं के अदृश्य श्रम की वर्तमान स्थितिः भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में

**पंकज चन्द्र गोस्वामी**

---

निजी संपत्ति के उदय काल से ही महिलाओं का पराभव एवं अधीनीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गई थी । पितृसत्तात्मक मानसिकता एवं मनुवादी विचार रखने वाले लोगों द्वारा सत्ता, शक्ति, संपत्ति, संसाधनों आदि से स्त्रियों को क्रमबद्ध रूप से वंचित किया गया और ऐसी व्यवस्था बनाई गई कि वह हमेशा पुरुषों की दासता की स्थिति में जीवन व्यतीत करें। भारतीय स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले भारत में धार्मिक विधि-विधान एवं प्रावधानों द्वारा ही सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक समस्त जीवन के पहलुओं का नियंत्रण एवं संचालन होता था। यह धार्मिक विधि-विधान व प्रावधान मनुस्मृति से प्रभावित थे जो एक पितृसत्तावादी समाज की संरचना एवं व्यवस्था स्थापित करता था, जिसमें स्त्रियों को संपत्ति एवं पुरुषों की एक दास की स्थिति में रखने का प्रावधान था । स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश के साथ-साथ स्त्रियों को भी कानूनी समानता, समता एवं अधिकार संबंधी आजादी प्राप्त हुई।

परन्तु जब किसी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था, संस्कृति और सामाजिक संरचना का आकलन होता है, तो अधिकांश आँकड़े पुरुषों के औपचारिक श्रम पर आधारित होते हैं – निर्माण, उद्योग, सेवा क्षेत्र, कृषि।वर्ष 2011 की जनगणना में लगभग 85 मिलियन महिलाओं ने घरेलू कार्य को अपने मुख्य व्यवसाय के रूप में चुना है, जबकि केवल 5.79 मिलियन पुरुषों ने ही इसे अपने मुख्य व्यवसाय के रूप में संदर्भित किया है। लेकिन यह पूरा मूल्यांकन अधूरा रह जाता है यदि उसमें वह श्रम  शामिल न हो, जो घरों की दीवारों के भीतर हर दिन मौन तपस्या में रत है। यह श्रम 'घरेलू महिलाएं करती है – महिलाओं की एक ऐसी भूमिका जो अदृश्य है, अवैतनिक है, और अनगिनत बलिदानों के बावजूद 'कमाऊ नहीं' मानी जाती है।

भारत में 15 वर्ष से अधिक आयु की लगभग 60% महिलाएं औपचारिक नौकरी में नहीं हैं, लेकिन वे प्रतिदिन औसतन 6 से 7 घंटे घरेलू कार्यों में व्यस्त रहती हैं। कपड़े धोना, भोजन पकाना, बच्चों की देखभाल, बुजुर्गों की सेवा, घर की साफ-सफाई, भावनात्मक तनाव का प्रबंधन – यह सबकुछ मिलाकर वे एक पूर्णकालिक नौकरी से भी कहीं अधिक काम करती हैं। यदि यही कार्य कोई घरेलू सहायिका करे, तो उसे प्रतिमाह ₹10,000-₹25,000 तक देना होता है। फिर भी इन महिलाओं को 'काम नहीं करतीं' कहकर अनदेखा कर दिया जाता है।

राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण (NFHS-5) के अनुसार, देश की 53% ग्रामीण महिलाएं एनीमिया से पीड़ित हैं, जिनमें अधिकांश गृहिणियाँ हैं। कुपोषण, अवसाद, और सामाजिक उपेक्षा – ये सब उस अदृश्यता का परिणाम हैं, जो भारतीय समाज की उनके श्रम के प्रति संवेदनहीनता को दर्शाते हैं।

यह त्रासदी किसी एक धर्म या वर्ग की नहीं, बल्कि भारत की हर उस स्त्री की है, जो घर की 'धुरी' तो है, पर स्वयं अपने ही अस्तित्व के हाशिए पर धकेली गई हैं।महिला उत्पीडन का यह स्वरूप मुस्लिम महिलाओं के बीच और भी गहन है, जहाँ कई बार परंपरागत वर्जनाएँ, शिक्षा की कमी और सामाजिक अलगाव उनके स्वास्थ्य, निर्णय लेने के अधिकार और आत्मसम्मान को और अधिक सीमित कर देते हैं।

भारतीय न्याय प्रणाली द्वारा महिलाओं के घरेलू कार्य से संबंधित न्यायिक टिप्पणियाँ की गई हैं -

'अरुण कुमार अग्रवाल बनाम नेशनल इंश्योरेंस कंपनी' (2010) में उच्चतम न्यायालय ने न केवल गृहिणियों के अमूल्य योगदान को स्वीकार किया बल्कि यह भी विचार व्यक्त किया कि संपत्ति के द्वारा इसका

मूल्यांकन नहीं किया जा सकता है क्योंकि प्रेम और स्नेह (भावनात्मक रूप से) के साथ प्रदान की गई उनकी सेवाओं की बराबरी पेशेवर तरीके से प्रदान की गई सेवाओं के साथ नहीं की जा सकती है।

न्यायमूर्ति ए.के. गांगुली ने वर्ष 2010 में एक निर्णय में 2001 की जनगणना का उल्लेख किया था, जिसमें घरेलू कर्तव्यों का निर्वहन करने वालों को श्रेणीबद्ध किया गया था। इसके अनुसार, भारत में लगभग 36 करोड़ महिलाओं को गैर-श्रमिक के रूप में श्रेणीबद्ध करते हुए उन्हें भिखारियों, वेश्याओं और कैदियों के साथ रखा गया था।

भारत में महिलाओं के घरेलू कार्यो को उनके वैवाहिक स्थिति के रूप में भी देखा जाता है।भारत में विवाहित महिलाओं के संयुक्त संपत्ति अधिकारों में  किसी भी प्रकार कासंयुक्त वैवाहिक संपत्ति कानून नहीं है।

वीना वर्मा ने वर्ष 1994 में विवाहित महिला (अधिकारों का संरक्षण) विधेयक, 1994 के नाम से निजी सदस्य के रूप में एक बिल पेश किया था। इसमें यह प्रावधान किया गया था कि विवाहित महिला अपने विवाह की तिथि से अपने पति की संपत्ति में बराबर की हकदार होगी।

परंतु वर्ष 2010 में 'नेशनल हाउसवाइव्स एसोसिएशन' को एक ट्रेड यूनियन के रूप में पंजीकरण से भी इनकार कर दिया गया क्योंकि घरेलू कार्य को न तो व्यापार और न ही उद्योग के रूप में मान्यता प्राप्त थी।

तब यह प्रश्न उठता है कि गृहिणियों को वेतन देना ही समाधान है? वर्ष 2012 में सरकार ने पति द्वारा अनिवार्य रूप से अपनी पत्नियों को मासिक 'वेतन' देने का प्रस्ताव दिया था। हालाँकि, मासिक भुगतान के रूप में 'वेतन' शब्द का प्रयोग वास्तव में समस्याग्रस्त है क्योंकि यह नियोक्ता-कर्मचारी संबंध को इंगित करता है।नियोक्ता अपने अधीनस्थ कर्मचारी पर अनुशासनात्मक नियंत्रण रखता है, जिससे पति और पत्नी के बीच स्वामी और सेवक का संबंध उत्पन्न होता है।

वर्ष 1991 में महिलाओं के खिलाफ भेदभाव के उन्मूलन पर संयुक्त राष्ट्र की समिति ने महिलाओं की अवैतनिक घरेलू गतिविधियों और जी.डी.पी. में उसकी गणना की माप और मात्रा का निर्धारण करने की सिफारिश की थी ताकि महिलाओं के वास्तविक आर्थिक योगदान पर प्रकाश डाला जा सके।

वैवाहिक संपत्ति कानून महिलाओं को संपति का अधिकार देते हैं लेकिन केवल तभी जब वैवाहिक बंधन समाप्त हो जाते हैं। अब समय आ गया है कि विवाह की निरंतरता के दौरान महिलाएँ परिवार के लिये जो कार्य करती हैं, उन्हें पुरुषों के कार्य की तरह समान रूप से महत्त्व दिया जाना चाहिये।

इस समस्या के समाधान के लिए  महिलाओं के घरेलू श्रम को 'कार्य' की मान्यता मिले – सामाजिक, सांस्कृतिक, और नीतिगत। यदि कोई महिला घर का संचालन कर रही है, तो उसे स्वास्थ्य बीमा, पेंशन, विश्राम, और निर्णयों में भागीदारी मिलनी चाहिए। स्वास्थ्य, शिक्षा और सामाजिक सुरक्षा योजनाओं में गृहिणियों की प्राथमिकता तय की जाए।लैंगिक समानता की शिक्षा बच्चों को प्राथमिक स्तर से दी जाए।धार्मिक, जातीय, ग्रामीण और शहरी महिलाओं के अलग-अलग संदर्भों में विशेष ध्यान और संसाधन आवंटित किए जाएं।पुरुषों में इस श्रम के प्रति संवेदनशीलता और सहभागिता को प्रोत्साहन मिले।'गृहिणी सम्मान योजना' जैसे विचारों को केवल घोषणाओं में नहीं, बल्कि ज़मीनी नीति में उतारने की आवश्यकता है।

यह केवल 'महिला सशक्तिकरण' का सवाल नहीं, यह हमारे नैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण की परीक्षा है। जो स्त्री बिना वेतन के, बिना अवकाश के, बिना शिकायत के, वर्ष दर वर्ष परिवार को जोड़ती रही है – क्या उसे केवल कर्तव्यबोध से बाँध देना पर्याप्त है? नहीं। उसे अब सम्मान की ज़रूरत है – केवल पति के शब्दों में नहीं,

बल्कि पूरे समाज की संरचना में। जिससे उस अदृश्य श्रम को सम्मान मिले जो न दिखता है और न गिना जाता है।

**संदर्भ ग्रंथ:**

1. प्रेम नारायण विनायक शर्मा, गरीबी उन्मूलन एवं महिला सशक्तिकरण, लखनऊ, भारत बुक सेंटर 2011
2. एसपी साहू वेलफेयर डेवलपमेंट आप वूमेन, नई दिल्ली सेंट्रल प्रेस, 2014
3. मीनू अग्रवाल,वुमेन इम्पावरमेंट एण्ड जेंडर इक्वालिटी, नई दिल्ली, कनिष्क पब्लिशर्स 2013
4. मधु कुमारी एंपावरमेंट ऑफ़ वीमेन न्यू दिल्ली रेंडम पब्लिकेशन, 2012

# यमुना–माहात्म्य

**डॉ. आदित्य नाथ***

भारतीय संस्कृति में आदिकाल से माहात्म्य कथन को परम्परा रही है। यह वेदों और पुराणों के पर्यालोचन से स्पष्ट है। वैदिक युग का अर्थवाद का सिद्धान्त ही कालान्तर में माहात्म्य शब्द से जाना गया। माहात्म्य परम्परा में प्रसिद्ध नदियों का माहात्म्य विशिष्ट स्थान रखता है। प्रायः सभी प्रसिद्ध नदियों का अपना इतिहास है, माहात्म्य है। भारतीय संस्कृति की यह एक गौरवमयी परम्परा है। सभी प्रसिद्ध नदियों का मानवीकरण न होकर दैवीकरण हुआ। नदियाँ न केवल सुनती हैं, प्रसन्न होती हैं, अपितु अभीष्ट फल एवं सिद्धि देती हैं। वे मनुष्य को भौतिक सुख–समृद्धि प्रदान करने के साथ–साथ उसे पारलौकिक सुख भी देती हैं। नदियाँ रसमयी हैं। अतः जीवन में रस का संचार करती हैं।

पुराकाल में नदियों का माहात्म्य तब प्रस्फुटित हुआ होगा जब तपती धूप में एक अज्ञात आवश्यकता से व्याकुल मनुष्य किसी नदी को देखकर उसके रसंमय स्वरूप को पाकर प्रसन्न हुआ। उसके जल से तृप्त हुआ। यह तृप्ति की आवश्यकता प्यास थी और उसका निदान थी नदी। मनुष्य क्या प्राणिमात्र ने उसका महत्व समझा। यह बात हमारे क्रान्तदर्शी ऋषियों के हृदय में पैठ गयी और उन्होंने वेदों से लेकर प्रायः समस्त पुराणों में नदियों का महत्व दर्शाया। उन ऋषियों ने जिन प्रमुख नदियों का माहात्म्य समझा और कहा उनमें यमुना अग्रगण्या है।

यमुना हिमालय में यमुनोत्तरी से निकलती है और प्रयाग पर्यन्त उत्तर भारत के एक बहुत बड़े भूखण्ड को निरन्तर अपने अमृतमय जलाभिषेक से धन्य करती हुई देवापगा गंगा को समर्पित होता है। अन्य नदियों के समान यह अपना अस्तित्व समाप्त नही करती अपितु ऐसा संगम करती है जो इतिहास में सर्वप्रसिद्ध है, जिसके कारण प्रयाग तीर्थराज है और अनादिकाल से त्रिलोक्य पूज्य है। प्रयाग के तीर्थत्व का कारण इस स्थल पर त्रिलोक्पावनी यमुना का सुरसरिता गंगा से मिलन ही है। ऋग्वेद में यमुना को असिता और गंगा को सिता कहा गया है और इन दोनों के संगम स्थान को बहुत महत्त्व प्रदान किया गया है–

**सितासिते सरिते यत्र सङ्गते यत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।**
**ये वे तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते।।**

–ऋग्वेद, खिल सूक्त–22/1

यमुना एक पवित्र नदी है। गंगा के समानान्तर बहने के कारण यह यमुना (युग्म में से एक) कहलाती है। इसका उल्लेख ऋग्वेद में तीन बार हुआ है। ऋग्वेदानुसार त्रित्सु एवं सुदास ने यमुना तट पर शत्रुओं के ऊपर विजय प्राप्त की थी। अथर्ववेद में यमुना के अञ्जन का उल्लेख त्रिककुद के साथ हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण एवं शतपथ ब्राह्मण के अनुसार भरतों की ख्याति यमुना तट के विजय से हुई। अन्य ब्राह्मण ग्रन्थ भी यमुना को उद्धृत करते हैं। भारत की सात पवित्र नदियों में इसकी गणना है–

* एसोसिएट प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास, महामाया राजकीय महाविद्यालय, धनूपुर, हण्डिया, प्रयागराज।
Email ID-adityanathyadav3006@gmail.com

**गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।**
**कावेरि नर्मदे सिन्धोर्जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।।**

यमुना कालिन्दी, सूर्यतनया, शमनस्वसा, तपनतनुजा, कलिन्दकन्या, यमस्वसा, श्यामा, तापी, कलिन्दनन्दिनी, यमनी, यमी, कलिन्दशैलजा, सूर्यसुता आदि नामों से संस्कृत वाङमय में जानी जाती है।

मार्कण्डेय पुराण में लिखा है कि यमुना सूर्यकन्या और यम की भगिनी है। यमुना की उत्पत्ति के सन्दर्भ में इस पुराण मे कहा गया हैं कि सूर्यपत्नी ने सूर्य को चंचल दृष्टि से देखा। सूर्य के शाप से उन्होंने चंचल शरीरा नदी यमुना और यम को जन्म दिया।

**ततः स चपलां दृष्टि देवीं चक्रे भयाकुला।**
**विलुलितदृशं दृष्ट्वा पुनराह च तां रविः।।**
**यस्माद्विलोलितादृष्टिर्मयिदृष्टे त्वयाधुना।**
**तस्माद्विलोलां तनयां नदीं तां प्रसविष्यसि।।**
**ततस्तस्यान्तु संजज्ञे भर्तृशापेन तेन वै।**
**यमश्च यमुना चैव प्रख्याता सुमहानदी।।**

—मार्क० पु०, 77/5–7

हरिवंश पुराण के अनुसार सूर्यमण्डल के तीव्र वेग से संज्ञा दग्धाङ्ग होती है। उसकी सुन्दर कान्ति निखर उठती है। यम और यमी उसके गर्भ से यमज (जुड़वे) उत्पन्न हुए। उनका वर्ण काला था। हरिवंश पुराण में ही यमी के यमुनारूप में ही सरिद्वरत्व प्राप्ति की बात कही गयी है। देवी पुराण के 45 वें अध्याय में भी यमुना के यम की भगिनी होने की बात लिखी है–

**सर्वाणि ह्रदयस्थानि मङ्गलानि शुभानि च।**
**ददाति चेप्सितान् लोके तेन सा सर्वमङ्गला।।**
**सङ्गमाद् गमनाद् गङ्गा लोके देवी विभाव्यते।**
**यमस्य भगिनी जाता यमुना तेन सा मता।**

यमुना सभी प्रकार से शुभ, मंगल एवं ह्रदयगत अभीष्ट कामना की पूरक है, तभी लोक में सर्वमंगला है। वह्नि पुराण के सागरोपाख्यान मे भी यमुना का यम एवं शनि को भगिनी होने का गौरव प्राप्त है–

**भ्राता शनैश्चरश्चास्य ग्रहत्वं स तु लब्धवान्।।**
**तयोर्यवीयसी या तु यमस्वसा यशस्विनी।**
**अभवत् सा सरिच्छ्रेष्ठा यमुना लोकपावनी।।**

इसलिये जनमानस में ऐसा विश्वास है कि यमुना स्नान करने वाले को यम से अर्थात् मृत्यु से भय नहीं होता और न तो शनि जैसे प्रबल ग्रह की बाधा ही उसे सताती है।

बहुत प्राचीन काल से जन साधारण में इस नदी का माहात्म्य फैला हुआ है। आर्य संस्कृति के उन्नायक वैदिक जन यमुना के किनारे उपनिवेश स्थापित कर यज्ञादि सम्पन्न करते थे। ऋक् संहिता के 5/52/17 मन्त्र में लिखा है 'यमुनायापधि श्रृत मुद् राधो गव्यं मृजे नि राधो अश्व्यं मृजे' अर्थात् 'मैं यमुना किनारे बैठकर प्रसिद्ध गोधन प्राप्त करूं।' यमुना किनारे की गायें वैदिक काल में भी श्रेष्ठ समझी जाती थीं। अतएव यमुना के किनारे कालान्तर में भगवान् श्रीकृष्ण का गोधन रक्षा और गोपालन स्वाभाविक लगता है।

ऋग्वेद के अन्य मन्त्र 10/75/5 में यमुना के लिए आदरणीय सम्बोधन से यमुना के किनारे आर्यो के उपनिवेश की बात और यमुना का माहात्म्य स्पष्ट होता है। इसके अतिरिक्त ऐतरेय ब्राह्मण (8/23), शतपथ ब्राह्मण (13/5/11), पंचविंश ब्राह्मण (9/4/11), शांख्यायन श्रौतसूत्र (13/29/25), कात्यायन श्रौतसूत्र (24/6/10), शांख्यायन श्रौतसूत्र 10/19/9), आश्वलायन श्रौतसूत्र (2/4/10) आदि में यमुना के उल्लेख से यह प्रतीत होता है कि आर्य यमुना किनारे रहकर यज्ञादि सम्पन्न करते थे।

यद्यपि हरिवंश पुराण से ज्ञात है कि यम और यमुना जन्म से काले थे तथापि श्रेष्ठ नदी के रूप में परिवर्तित यमुना का जल काला क्यों हुआ, इस सम्बन्ध में वामन पुराण के छठें अध्याय में उल्लेख है कि दक्ष के यज्ञ–विनाश के बाद महादेव अत्यन्त दुःखी हो इतस्ततः विचरण कर रहे थे। उस समय उन्हें पत्नी के विरह से दुःखी देखकर कुसुमायुध कामदेव ने उन्मादन अस्त्र चलाया। इस अस्त्र के प्रभाव से महादेव अत्यन्त उन्मत्त हो सती का बारम्बार स्मरण कर अत्यन्त व्याकुल हो उठे।

**यदा दक्षसुता ब्रह्मन् सती याता यमक्षयम्।**
**विनाश्य दक्षयज्ञ तं विचचार त्रिलोचनः।।**

**ततो दुषध्वजं दृष्ट्वा कन्दर्पः कुसुमायुधः।**
**अपत्नीकं तदास्त्रेण उन्मादेनाभ्यताऽयत्।।**
**ततः हरः शरेणाथ उन्मादेनाभिताडितः।**
**विचचार तदोग्मत्तः बाननानि सरांसि च।।**
**स्मरन् संतो महादेवस्तथोन्मादेन ताडितः।**
**न शर्म्य लेभे देवर्षे बाणविद्ध इव द्विपः।।**
**ततः पपात देवेशः कालिन्दीसरिते मुने।**
**निमग्ने शङ्करे चापै दग्ध्वा कृष्णत्वमागता।।**
**तदा प्रभृति कालिन्द्याः दृगञ्जननिभं जलम्।**
**आस्पदं पुण्यतीर्थानां केशपाशमिवावनेः।।**

यमुना प्रयाग में अपनी सहचरी गंगा से मिलती है। व्यावहारिक दर्शन से स्पष्ट होता है कि प्रयाग तक गंगा का जल प्रायः श्वेत है किन्तु इसके बाद ईषत श्याम हो जाता है। इसका कारण यमुना का प्राधान्य ही है। उसका वर्ण एवं अगाध जल अपना अस्तित्व खो ही नहीं सकता। 'प्राधान्येव व्यपदेशा भवन्ति' इस आधार पर बड़ी सहचरी गंगा का ही नाम आगे सागर तक जाना जाता है। मत्स्य पुराण 108/32 में कहा भी गया है–

**गङ्गा च यमुने चैव उभे तुल्यपले स्मृते।**
**केवल ज्येष्ठभावेन गङ्गा सर्वत्र पूज्यते।।**

विष्णु पुराण के अनुसार स्वयम्भुव मनुपुत्र प्रियव्रततनय ध्रुव को देवर्षि नारद ने यमुना तीर के पवित्र मधुवन में जाकर तपस्या करने का निर्देश दिया और बताया–

**'पुण्यं मधुवनं यत्र सान्निध्यं नित्यदा हरेः।'**

ध्रुव ने इसी यमुना तट पर भगवद्दर्शन किया। इस प्रकार भगवान् कृष्ण के अवतार के पूर्व से ही यमुना तट का माहात्म्य है। जन्माष्टमी व्रत में सुना जाता है कि पूर्व जन्म में तपस्या कर यमुना ने भगवान् के श्रीचरणों की प्रार्थना की थी। श्रीकृष्ण रूप में भगवान् ने जब अवतार लिया और वसुदेव जी बालक कृष्ण को सिर पर रखकर यमुना पार कर नन्दजी के घर जा रहे थे तो यमुना श्री कृष्ण के स्पर्श के लिए व्याकुल हो बढ़ने लगी। कण्ठ तक जल पहुँचने पर वसुदेव जी घबड़ा उठे। उस समय शिशुरूप भगवान् कृष्ण ने अपने चरण तत्काल नीचे बढ़ा दिये। चरण से कृतार्थ यमुना का वेग घटा और वसुदेव कुशल से यमुना पार कर नन्दजी के घर पहुँचे। इस प्रकार भगवान् कृष्ण ने शिशु काल में हो यमुना का स्पर्श कर उसे महिमामयी बनाया। भगवान् कृष्ण का यमुना प्रेम भागवत पुराण संहित अन्य कई पुराणों में वर्णित है। श्रीकृष्ण इसी के तट पर खेले और बड़े हुए। श्रीकृष्ण के सम्पर्क के कारण यमुना का माहात्म्य और भी बढ़ गया जैसे भगवान् राम के सम्पर्क से सरयू नदी का।

रामायण में राम वन गमन के समय प्रयाग में पुण्यतीया यमुना तट की महिमा का उल्लेख है। सीता जी द्वारा राम के मंगल हेतु यमुना की प्राथना का
वर्णन इस ग्रन्थ में है।

**यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च।**
**स्वस्ति प्रस्यागते रामे पुरीमिस्वाकुषालिताम्।**
**कालिन्दीमथ सीता तु याचमान कृताञ्जलिः।**
**तीरमेवाभिसम्प्राप्ता दक्षिणं वरवर्णिनी।।**

–रामायण–2/55/20–21

तदनन्तर सीता यमुना तट पर स्थित शीतलच्छाय पवित्र श्यामवट को भी प्रणाम करती हैं। इस प्रकार भगवान् राम एवं सीता द्वारा भी यमुना को महत्व दिया जाना प्रमाणित है।

पद्म पुराण (उत्तर खण्ड, 195/18–21) के अनुसार विष्णु को यज्ञ से प्रसन्न करने की इच्छा रखने वाले इन्द्र को बृहस्पति ने त्रैलोक्यपावनी यमुना के तट पर यज्ञ करने का आदेश दिया था, क्योंकि यमुना स्मरण मात्र से स्वर्ग और उसके तीर पर मरने पर ब्रह्मपद प्रदान करती है।

**तत्रास्ति यमुना पुण्या धन्या त्रैलोक्यपावनी।**
**ददाति स्मरणे स्वर्ग मरणे ब्रह्मणः पदम्।।**

**तत्तीरे यंत्र देवेश केशवं बहुभिर्मखैः।**
**यदीच्छसि स्वकीयानां कल्याणं त्वं निरन्तरम्।।**

विष्णु पुराण के अनुसार ज्येष्ठ मास की शुक्ल एकादशी को यमुना में स्नान कर दानादि धर्म कार्य तथा पिण्डदान, श्राद्ध बादि पितृकार्य करने से सब प्रकार का मंगल होता है। यमुना स्नानतर्पण व्रत यमुना माहात्म्य को योतित करता है। इस व्रत के अनुसार यमुना जल में खड़े होकर यमराज के भिन्न–भिन्न नामों के साथ तिल मिश्रित जल की तीन–तीन अंजलियों से उनका तर्पण करना चाहिये। इससे मनुष्य यम (मृत्यु) के भय से मुक्त रहता है।

यम द्वितीया व्रत भी यमुना का स्मारक व्रत है। भविष्योत्तर पुराण के अनुसार कार्तिक शुक्ल द्वितीया को यमराज के प्रीत्यर्थ यह व्रत किया जाता है। बहिनें अपने भाइयों की मृत्यु के देवता से रक्षार्थ यह व्रत करती हैं। इसे धातु द्वितीया भी कहते हैं। यम द्वितीया के दिन यम स्वसा सूर्यतनया यमुना में स्नान करने का विधान है। इससे यमराज प्रसन्न होते हैं। इस पर्व पर यमुना में स्नान पुण्यकारक माना गया है।

संगम से 8 मील दक्षिण–पूर्व दिशा में स्थित वीकर क्षेत्र में यमुना की जलधारा के मध्य उत्थित टेकरी पर एक मध्यकालीन मन्दिर है जिसे 'सुजावन देव' के नाम से जाना जाता है। वहाँ यम द्वितीया को विशाल जनसमूह स्नान कर शिवरूप सुजावन देव की आराधना करता है।

कार्तिक शुक्ल द्वितीया को यमुना ने यम को अपने घर भोजन के लिये आमन्त्रित किया। इसी से इसे संसार में यम द्वितीया के नाम से घोषित किया गया। समझदार लोगों को इस दिन अपने घर में मध्याह्न भोजन नहीं करना चाहिये। उन्हें अपनी बहिन के घर स्नेहवश खाना चाहिये। ऐसा करने से कल्याण या समृद्धि प्राप्त होती है। बहिनों को भेंट दी जानी चाहिये और यमुना का स्मरण करना चाहिये। इस कृत्य में धार्मिकता का रंग जोड़ दिया गया है। ऋग्वेद में वर्णित (10/10) यम–यमी आख्यान यहां आ गया है।

पद्म पुराण (उत्तरखण्ड, 30/25) में भी कहा गया है कि जिस दिन यम को यमुना ने इस लोक में स्नेहपूर्वक भोजन कराया, उस दिन जो व्यक्ति अपनी बहिन के 'हाथ का बनाया हुआ भोजन करता है वह धन और सुन्दर भोजन पाता है। यम द्वितीया के दिन यमुना की पूजा करके इस मन्त्र द्वारा नमस्कार का विधान है।

**यमस्वसर्नमस्तेऽस्तु यमुने लोकपूजिते।**
**वरदाभय मे नित्यं सूर्यपुत्रि नमोऽस्तु ते।।**

इस दिन यमुना का स्मरण भाई–बहिन के स्नेह के रूप में होता है। इससे चिरायु की प्राप्ति होती है।

**यस्यां तिथो यमुनया यमराजदेवः।**
**सम्भोजितः सकललोकनिपातदक्षः।।**
**तस्यां भुनक्ति सुतिथौ च गृहे भगिन्याः।**
**प्राप्नोति वित्तमतुलं स चिरायुरेव।।**

यमुना धरती पर अपनी सहचरी त्रैलोक्य पावनी सुरसरिता गंगा से जहाँ मिलती है वहां सारे तीर्थों के आभूषण मौलिभूत तीर्थराज प्रयाग का सृजन करती हैं। अन्य किन्हीं दो नदियों का संगम उतना पुण्यप्रद नहीं माना गया जितना यमुना–गंगा का। कूर्म पुराण में प्रयाग माहात्म्य वर्णन में महामुनि मार्कण्डेय ने युधिष्ठिर से कहा है कि गंगा–यमुना संगम में स्नान करने से ब्रह्मादि द्वारा रक्षित दिव्य लोक प्राप्त होता है। यहाँ काली, पीली या धौरी गाय जिसकी सींग सोने की हो, खुर चाँदी के हों, कण्ठाभूषण से भूषित दूध देने वाली हो, का दान करने से मनुष्य उस गाय के शरीर के प्रत्येक रोम पर एक–एक सहस्र वर्ष रुद्रलोक में पूजित होता है। यहाँ अभिषेक करने से राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञ का फल होता है।

माघ मास में गंगा–यमुना के संगम पर 66 हजार तीर्थों का समागम होता है। इस समय यहाँ स्नान करने से मनुष्य शरीर के प्रति रोम कूप के हिसाब से सहस्र वर्ष स्वर्गलोक में पूजित होता है। उपर्युक्त पुराण के अनुसार प्रयाग में यमुना जल में स्नान करने से और जल पीने से मनुष्य सर्व पापों से मुक्त होता है और अपनी सात पीढ़ियों को पुण्य युक्त बनाता है। यमुना के दक्षिण किनारे पर अग्नितीर्थ और पश्चिम में धर्मराज का अनरकतीर्थ है। यहाँ कृष्ण चतुर्दशी को स्नान करने से महापाप का मोचन होता है।

यमुना के महत्व से आदिकाल से लोग प्रभावित रहे हैं। आदि शंकराचार्य कृत यमुनाष्टक एवं वल्लभाचार्य कृत यमुनाष्टक यमुना के माहात्म्य को प्रचारित एवं प्रकाशित करते हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार यमुना का जल विलक्षण है, इसका पान करने से यम की यातना नहीं भोगनी पड़ती।

**नमोऽस्तु यमुने सदा तव चरित्रमत्यद्भुतम्।**
**न जातु यमयातना भवति ते पयपानतः।।**

शंकराचार्य के अनुसार यमुना 'तृणीकृतत्रिविष्टपा त्रिलोकशोकहारिणी' अर्थात् त्रिभुवन का शोक हरने वाली होने के कारण स्वर्गलोक को तृणवत् समझती है, 'मलापहारिवारिपरभूरिमण्डितामृता' अर्थात् मलापहारी सलिल समूह से अत्यन्त सुशोभित है, 'प्रवाहसाहचर्य पूतमेदिनीनदीनदा' अर्थात् अपने प्रवाह के सहयोग से पृथिवी, नदी और नदों को पावन बनाती है। इस कृपा की समुद्र, तापशमनी, सकल भयनिवारिणी, संकटनाशिनी यमुना का माहात्म्य जितना कहा जाय थोड़ा ही है।

यमुना स्वयं में एक तीर्थ है– 'आस्पदं पुण्यतार्थानां। तीर्थ में जिसका जैसा विश्वास होता है, जैसी भावना होती है, वैसा ही फल उसे प्राप्त होता है–

**मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ।**
**यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।**

यमुना की प्रसिद्धि के मूल में वैज्ञानिक तथ्य भी हैं। जो नदी आदिकाल से अपने तटवासियों की जीवनभूता रही हो, उसका महत्व धार्मिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से बढ़–चढ़कर इसलिये बताया गया कि लोक उसे पवित्र समझे और उसको प्रदूषण से बचायें। नदी की पवित्रता का इतना ध्यान रखा गया कि इसमें स्नान का विधान भी स्वच्छ शरीर से किया गया। यह सब प्रदूषण रोकने के लिये ही हमारे त्रिकालदर्शी ऋषियों ने किया। राजनिघण्टु ने यमुना जल का आयुर्वेद की दृष्टि से व्यावहारिक महत्त्व इस प्रकार बताया है।

**अस्या जलगुणाः। पितदाह, वमनश्रमापहत्वम्। स्वादुत्वम्। वातजननत्वम्। पाचनत्वम्। पावनत्वम्। बह्विदीपनकरत्वम्। रोचनत्वम्। बलप्रदत्वं च।**

अर्थात् इसका जल पित्त, जलद, वमन और श्रम को दूर करने वाला, स्वादिष्ट, पाचक, पवित्र करने वाला, मन्दाग्नि दूर करने वाला, अरुचि दूर करने वाला तथा बलप्रद है।

आज भी यमुना और उसके जल का उतना ही माहात्म्य है जितना प्राचीन काल में था। इसको समझने के लिये आवश्यकता है विश्वास की, आध्यात्मिक भावना की, यमुना के देवत्व को समझने की, उसका प्रदूषण से बचाने की और पवित्र बनाये रखने की। तभी यमुना माहात्म्य सर्वजनहृदयग्राह्य हो सकता है। और तभी यमुना अपने समस्त गुणों को प्रकाशित करती है।

**'जय यमुने जय भीतिनिवारिणि सङ्कटनाशिनि पावय माम्।'**

# नई कहानीः संवेदना एवं विकास

**प्रो. अखिलेश राम***

स्वतन्त्रता के बाद अर्थात् *1950* के बाद नई कहानी गद्य विधा अलग-अलग दृष्टिकोणो से प्रेरित हुई अर्थात् एक ही समय में दो ऐसी साहित्यिक विधाएँ इतनी परस्पर और विरोधी संवेदनाओं के साथ जन्म लेती हैं यह काफी रोचक हो जाता है

इसकी प्रकृति को समझना और महसूस करना। जिस सन्दर्भ के बाद नयी कहानी का उभार होता है वह कविता का अपने आप में निरीह हो जाना असमर्थ हो जाना हैं और कहानी का विस्तृत व्याख्यान का रूप लेकर अचानक ही सामाजिक शक्तियों से जुड़ जाना है। अधिक गहराई और प्रभावशाली ढंग से व्यक्ति की अभिव्यक्ति की शक्ति बन जाना यह नयी कहानी की केन्द्रीय चर्चा का हिस्सा हो जाना है। इस संदर्भ में प्रख्यात कहानीकार राजेन्द्र यादव जो समाकालीन कहानीकारों के सशक्त हस्ताक्षर रहे है उनकी बात महत्वपूर्ण हो जाती है

"जिस ढंग से हमें स्वतन्त्रता मिली और उसके बाद ही साम्प्रदायिक दंगो और हिन्दू-मुस्लिम जनता का स्थानान्तरण हुआ, उससे सब कुछ अव्यवस्थित होकर बिखर गया था और इससे अवसरवादी राजनीति में अपनी स्थिति मजबूत कर रहा था। साहित्य में प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी दो ही तरह का लेखन था और स्पष्ट बंटा हुआ था। लेकिन दोनो ही अपनी वास्तविकता से कट गये थे[1]

इस कथन द्वारा राजेन्द्र यादव उस पृष्ठभूमि को समझाने का प्रयत्न करते है कि समकालीन कहानी कथ्य एवं संवेदना में किस तरह सामाजिक राजनीतिक परिवेश के असर से खास अनुभूति के पक्ष को विकसित करती है। प्रगतिशील रचनाकार नयी कहानी की संवेदना और शिल्प को बदलते हैं। जाहिर है कि कविता अपनी शक्ति में बुनियाद में अभिव्यक्ति के चरम पक्ष में सिथिल हो जाती है जिसका विस्तृत आध्यान कहानी बल्कि समकालीन मे मिलती है। इसलिए राजेन्द्र यादव एक जगह कहते है कि 'नयी कहानी व्यक्ति वादियों के साथ थी, नयी कहानियाँ प्रगतिशीलो के। नये कहानीकारों ने अपने अन्दर के घुटने भावो को निकालकर समाज में प्रतिष्ठित करते है। प्रगतिशीलता के सापेक्ष उस मनोस्थित का ऐसा भावनात्मक चित्र शिल्प एवं कथ्य के रूप में करते हैं जो आम आदमी का सशक्त दस्तावेज बन जाते हैं। नई कहानी में प्रामाणिक अनुभव या अनुभूति की प्रामाणिकता ही सर्वाधिक सुनाई पड़ती है जैसा कि राजेंद्र यादव कहते हैं।

'व्यक्ति परिवेश के भीतर सांस लेता था और परिवेश व्यक्ति के माध्यम से ही अपनी जुबान पाता था। कहानीकार इन दोनों धरातलों को एक बिंदु पर पकड़ना चाहता था। इन कहानीकारों का दूसरा आग्रह यह भी था कि न तो व्यक्ति इतना दृष्टिहीन है कि उसे अपने आसपास या आगे का कुछ ना दिखाई दे न इतना हवाई की कोई भी बाहरी दर्शन उसे जो भी दिखा दे वही उसकी सच्चाई बन जाए।[2]

कहनीकार खासकर नये कहानीकार को विशेष दृष्टि व समझ की जरूरत महसूस की गई है जो सामाजिक कोणो के साथ कहानी के मूल कोणो की बारीकियों को भाषा को बरतनें और उसके व्यापक रियाज पर बल देने की सख्त जरूरत थी। थोपा और रोपा नयी कहानी के लिए स्वीकार नहीं। नयी कहानी परिवेश के महसूसपन पर आधारित ना होकर उस परिवेश को भोगने के उपरांत प्रमाणिक अनुभव से युक्त हो। प्रेमचंद की कहानियां अपने समाज व परिवेश में ग्रामीण जीवन के साथ-साथ शस्त्रीयता के खांचे से बंधी परंपरा से जुड़ी हुई है क्योंकि प्रेमचंद ने गांव के परिवेश को जीया था बल्कि भोगा भी था इसी तरह जैनेंद्र व अज्ञेय की कहानियां शिल्प में बदलाव के बावजूद कहीं न कहीं जीवन के पुनरावलोकन से जुड़ी हैं।

पचास-साठ के बीच की कहानियां प्रायः अपने जीवन को जीते चलने वाले एक गतिशील व्यक्ति की अतीत और वर्तमान की समानांतर कहानियां है। जबकि समकालीन या आधुनिक कहानी में बदलते परिवेश और शहरी मानसिकता में उपजे विचार और भाव को इस दौर की कहानियां अपने की जीवंत रखती है।

---

* राजकीय महिला महाविद्यालय शाहगंज, जौनपुर

आधुनिक कहानी के विकास क्रम के दो चरण, पहला नई कहानी 1950 से 1964 का चरण एक दूसरे से अलग नहीं है। आलोचना के केंद्र में अब कहानी मुख्य रूप से देखी जा रही है। इस उन्मेष काल में कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, जैनेंद्र कुमार शिव प्रसाद सिंह, हरिशंकर परसाई उपेंद्रनाथ अश्क जैसे कहानीकार एवं बच्चन सिंह नामवर सिंह परमानंद श्रीवास्तव जैसे आलोचकों के बीच खूब जमकर बहस नई कहानी अभिधान, उचित एवं अनुचित है इस बात पर होती रही। श्री पतराय की मासिक पत्रिका कहानी के 1956 में भैरव प्रसाद गुप्त के सम्पादकत्व मैं छपे प्रख्यात नवर्षांक से इस कहानी आंदोलन की पूर्ण पतिष्ठा मानी जाती है।

इंद्रनाथ मदान का प्रसिद्ध कथन 'चयन संपादन का मूल्यांकन नामवर सिंह का रचनाएं मोहन राकेश, निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, भीष्म साहनी आदि अनेक कहानी कारों की धन श्री पतराय का सबने मिलजुल कर नई कहानी की जन्म दिया इसका पालन पोषण किया और अंत में इसे आलोचकों से भिड़ने को छोड़ दिया।[3]

नई कहानी आंदोलन में जो प्रसिद्ध कहानियां है डिप्टी कलेक्टरी-अमरकांत, सावनी समां-अमृतराय, राजा निरबंसिया कमलेश्वर, बादलों के घेरे कृष्णासोबती, कुल की बन्ने-धर्मवीर भारती, रस प्रिया फणीश्वरनाथरेणु एवं कमजोर लड़की की कहानी-राजेंद्र यादव, राग विराग-हरिशंकर परसाई आदि को ले सकते हैं। ये कहानीकार आधुनिक कहानीकार आधुनिक कहानीकार के साथ नई कहानी कारों के रूप में कहानी में ऊर्जा और जोश की शक्ति को क्षीण नहीं होने दिया। नई कहानी की प्रवृत्तियों में हम कथा एवं शिल्प की बुनियाद पर ही विश्लेण को सार्थक पाते हैं यथार्थ के प्रति नया नजरिया संबंधों को लेकर मूल्य एवं मान्यता में बदलाव एक प्रकार से हम कर सकते हैं शहरी जीवन बोध में आए प्रत्येक परिवर्तन को लेकर इस दौर की कहानियां प्रमाणिक एवं जीवनिक अनुभव को बयान करती है। भाषा जिसे सिर्फ विवेचन के रूप में देखते हैं विश्व विधान प्रतीकात्मकता, अभिव्यंजना, परिवेश चित्रण आदि में बदलाव इस दौर की कहानी के महत्वपूर्ण बदलाव ही कहानी को नई कहानी से विलग करती है।

पुष्प लता सिंह की किताब समकालीन कहानी नयापरिप्रेक्ष्य में नई कहानी की तरफ इस बात पर भरपूर बल दिया गया है जब नई कहानी के कथा और शिल्प की बात की जाती है नई कहानी की कथ्य और शिल्पगत प्रवृतियां स्वतः स्पष्ट है। नई कहानी की समीक्षा में उन पर पृथक-पृथक स्थानों पर काफी कुछ कहा गया है इसलिए यां यह कहना ही अलग है कि नई कहानी यथार्थ के प्रति एक बिल्कुल नया स्वरूप लेकर आयी थी। कथ्य संबंधी उसकी समस्त विशेषताएं यथार्थ के प्रति नई दृष्टि से ही निष्पन्न हुई। यथार्थ की अभिनव प्रस्तुति में भाषा और शिल्प की नई दृष्टि आना सहन स्वाभाविक ही था अतएव यथार्थ की नई प्रस्तुति से ही भाषाऔर शिल्प की अन्य प्रवृत्तियां उद्भूत हुई हैं। इस प्रकार यथार्थ के प्रति सर्वथा नवीन दृष्टि और उसकी प्रस्तुति का अभिनव शिल्प ही नई कहानी की संवेदना का केंद्र बिंदु ठहरते हैं।[4]

नई कहानीकारों में पुरूष एवं महिला कहानीकारों ने स्त्री-पुरुष के संबंधों पर खुलकर अभिव्यक्ति की है। महिलाओं की हरेक समस्याओं को लेकर महिला कहानीकारों ने नई कहानी के कलेवर को पूरी तरह अलग निर्मिति दी है। समकालीन दौर की कहानी कारों में मन्नू भंडारी आधुनिक भारतीय नारी जीवन की नई समस्याओं को लकर कहानी लिखती हैं 'एक पुरुष एक नारी' 'यही सच है' 'त्रिशुक' आदि उषा प्रियंवा का 'कच्चे धागे' 'वापसी' आदि। अमृता प्रीतम, चित्रा मुदगल, इंदु बाली, शशिप्रीत शास्त्री, कृष्णा सोवती, मृणाल पांडे, ममता कालिया, आदि अनेक महिलाओं ने स्त्री जीवन की पीड़ा, निराशा, अभावग्रस्त जीवन, अवैध संबंध पुरुषों से मिलते प्रतिकार को लेकर कहानी लिखती हैं। कृष्णा सोवती की कहानी शायद इन्हीं शीर्षकों को आसानी के साथ बयां करती है। खत जो गुमनाम थे, बदनाम, सौदा आदि अनेक कहानियां दांपत्य जीवन, टूटन, कुहासे, अधूरे प्रेम, कठपुतली, आवारे मन को लेकर लिखी जा रही है। स्त्री-पुरुषों के संबंधों में आए बदलावों और परिवेश गत परिस्थितियों के कारण यह स्पेस महिला पुरूष कहानीकारों को प्राप्त होता है। मालती जोशी की कहानी आखिरी शर्त जिस समस्या को रेखांकित किया है उसे हम देख सकते हैं 'प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में जीने की कोई न कोई आखिरी शर्त होती ही है, मर्यादा या सीमा होती है। यदि कोई इस सीमा को लांघकर आगे निकल जाए तो समाज की नजरों में चुभने लगता है।

सामाजिक परंपरा से रूढ़ियां बाधा बनकर व्यक्ति के मार्ग में खड़ी हो जाती हैं। इससे व्यक्ति का कैरियर चौपट हो जाता है प्रायः हमारे समाज में लड़कियों को ही ये समस्याएं अधिक सताती हैं। लड़कियां इन रूढ़ियों की मजबूरी से शिकार हो जाती है।

प्रस्तुत कहानी में ऐसे ही उभरने वाली दो युवा लड़कियों के अरमान कुचल जाने की व्यथा को प्रस्तु किया गया है।[5]

आधुनिक कहानी से नई कहानी की संवेदना को बिल्कुल अलगा नहीं सकते अगर बुनियादी अंतर आया है तो बदलते समय समाज के परिवेश गत कारण ही अहम रहे हैं। निःसंदेह नये कहानीकार परंपरा से अपने को अलग रखते हुए भोगे हुए सच को बेहिचक कहने की उत्कंठा से सम्प्रेरित है। इस निरंतर होते हुए बदलावों के कारण ही तमाम कहानी आंदोलनों को गति व बल मिलता है। प्रगतिवादी कहानी आंदोलनों, समकालीन कहानी आंदोलन अकहानी, सचेतन कहानी, सहज कहानी एवं समानांतर कहानी आंदोलनों से समानांतर कहानी के कलेवर को नया रूप मिलता रहा है। समस्त आंदोलनों में किसी न किसी खास बोध को लेकर आंदोलन चलता है। विद्रोह पुरातनता का, क्षणवाद, यौन प्रसंग, अस्तित्ववाद, पूंजीवादी व्यवस्था, मूल्यों की प्राप्ति, आडंबर, समानांतर सोच आदि मोटे तौर पर संदर्भित विषयों को आधार बनाकर कहानीकार आंदोलन और विषय को स्थापित करते नजर आते हैं। नई कहानी के ये सभी मूल्य नए रूप में कथ्य एवं शिल्प के धरातल पर विकसित होते हैं। नई कहानी भी बिल्कुल नई नहीं, बल्कि इन्हीं कहानी आंदोलनों की उपज और आख्यान है।

डॉक्टर सुकुमार भंडारे की किताब हिंदी कहानी आदि से आज तक में डॉक्टर रामकली सराफ "हिंदी कहानी विघटन एवं विसंगति की भूमिका में लिखती हैं नई कहानी के चरित्र मानसिक निजता, सामाजिक परिवेश गत मूल्यों मान्यताओं नए व्यक्तित्व मानस की असंगति तथा क्रमशः पारिवारिक, सामाजिक जीवन के विघटित होते जाने की ट्रेजडी को भोगते दिखाए गए हैं। नई कहानी की यही प्रमुख विशेषता है।[6]

दृश्य एवं दृष्टि सूक्ष्मता ने नई कहानी को आधिक मर्मस्पर्शी बनाया है। शास्त्रीय एवं परंपरागत कहानियों में रक्षात्मक एप्रोच के साथ कथा कही जाती थी। समाज पूर्णतया केंद्र में थामगर बदलते परिवेश में जटिल समाज की टूटती जड़ मान्यताओं, शिक्षा में आए नूतन परिवर्तनों ने व्यक्ति को ज्ञान एवं संवेदना की जागरूकता एवं स्वतंत्रता से जोड़ा। स्वयं कहानीकारों ने परिवेश के साथ अपने मूल्यों को निजता को तोड़ा और विसंगति के प्रति दृष्टि एवं जुबान बुलंद की। अपने आप को अभिव्यक्ति कह पाना थोड़ा मुश्किल और चुनौतीपूर्ण था ऐसा नहीं कि पहले के कहानी कारों में यह बेचैनी कंद थी बल्कि नए कहानीकारों ने प्रेमचंद और प्रसाद से अपने आप को जोड़ते हुए सीख की परंपरा को बनाए रखा। स्वर और तेवर व्यक्ति का या कहानीकार का अपना निजी स्वभाव है उसी अनुसार समाज व व्यवस्था की उपादेयता को स्वीकार एवं प्रतिकार करता है। विभिन्न युग की कहानियों में कुछ सूक्ष्म तो कुछ स्थूल पक्ष हैं जो कहानियों के बीच अंतर को सुस्पष्ट करते हैं मगर नई कहानी और समकालीन कहानी के मध्य अलग पहचान के बिंदु इतने स्पष्ट नहीं। दूसरा इसके कहानीकार दोनों कहानियों में स्वतः शामिल है। नई कहानी के खतरे की पहचान करते हुए पुष्प लता सिंह के विचार महत्वपूर्ण है' कहानीकार व्यक्ति की उपेक्षा करके समाज या परिवेश को ही महत्व दे। आज की कहानी में व्यक्ति अपने माध्यम से समाज या परिवेश से जुड़ता। यहाँ समाज और व्यक्ति अथवा कहे परिवेश या व्यक्ति की स्थिति पृथक-पृथक न होकर अंतग्रर्थिन है। इस पद्धति के कारण आज कहानीकार मानव अस्तित्व के व्यापक प्रश्नों पर अपनी चिंता प्रगट कर रहा है।[7]

**संदर्भ-ग्रंथ**

1· कहानी अनुभव सर्व अभिव्यक्ति पृष्ठ 52 राजेन्द्र यादव नाणी प्रकाशन दिल्ली
2· वही –पृष्ठ-53
3· हिन्दी कहानी अपनी जुबानी- पृष्ठ 54 इद्रनाथ मदान राजकमल प्रकाशन प्रा॰ लि॰ नई दिल्ली
4· समकालीन कहानी नया परिप्रेक्ष्य पृष्ठ 118 पुष्पलता सिंह(सामायिक प्रकाशन)
5· समकालीन महिला कहानीकार डॉ॰ श्रीमती महादेवी दुडप्पा गुख पृष्ठ सं. 51
6· हिन्दी कहानी आदि से आज तक डॉ॰ सुकुमार भंडारे पृष्ठ - 24
7· समकालीन कहानी नया परिप्रेक्ष्य पुष्पलता सिंह पृष्ठ-129 (सामयिक प्रकाशन)

# स्वामी सहजानन्द सरस्वती और किसान आंदोलन : एक ऐतिहासिक विश्लेषण

**बिभा कुमारी***

**शोध सार** :

*प्रस्तुत शोध लेख ''स्वामी सहजानन्द सरस्वती और किसान आंदोलन : एक ऐतिहासिक विश्लेषण'' का अध्ययन है। स्वामी सहजानन्द सरस्वती भारतीय किसान आंदोलन के ऐसे अग्रणी विचारक और नेता थे, जिन्होंने औपनिवेशिक भारत में कृषक वर्ग को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक चेतना प्रदान की। उनका आंदोलन केवल आर्थिक शोषण के विरोध तक सीमित नहीं था, बल्कि वह सामंती संरचना, जमींदारी प्रथा और औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध एक व्यापक वैचारिक संघर्ष था। प्रस्तुत लेख में स्वामी सहजानन्द सरस्वती के जीवन, उनके वैचारिक विकास, किसान आंदोलन में उनकी भूमिका, संगठनात्मक प्रयासों, औपनिवेशिक सत्ता और कांग्रेस के साथ उनके संबंधों तथा भारतीय किसान आंदोलन पर उनके दीर्घकालीन प्रभाव का ऐतिहासिक विश्लेषण किया गया है।*

**विशिष्ट शब्द :** स्वामी सहजानन्द सरस्वती, किसान आंदोलन, जमींदारी प्रथा, बिहार, औपनिवेशिक भारत, किसान सभा इत्यादि ।

**परिचय :** भारतीय इतिहास में किसान आंदोलन सामाजिक–आर्थिक संघर्षों का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। औपनिवेशिक काल में भारत की कृषि व्यवस्था सामंती जमींदारी प्रथा, भारी लगान, बेगार और शोषणकारी प्रशासनिक नीतियों पर आधारित थी। इस व्यवस्था में किसान न केवल आर्थिक रूप से बल्कि सामाजिक रूप से भी उत्पीड़ित थे। ऐसे परिवेश में किसान वर्ग को संगठित कर उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करना एक अत्यंत कठिन कार्य था।

स्वामी सहजानन्द सरस्वती (1889–1950) ने इस चुनौती को स्वीकार किया और किसान आंदोलन को संगठित, वैचारिक तथा राजनीतिक दिशा प्रदान की। वे केवल एक आंदोलनकारी ही नहीं, बल्कि एक गंभीर चिंतक, लेखक और समाज सुधारक भी थे। उन्होंने किसान प्रश्न को वर्ग–संघर्ष, सामाजिक न्याय और राष्ट्रीय आंदोलन के व्यापक संदर्भ में रखा। इस लेख का उद्देश्य स्वामी सहजानन्द सरस्वती के योगदान को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझना और भारतीय किसान आंदोलन में उनकी भूमिका का समग्र मूल्यांकन करना है।

**स्वामी सहजानन्द सरस्वती : जीवन और वैचारिक पृष्ठभूमि**

स्वामी सहजानन्द सरस्वती का जन्म उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिला में हुआ। प्रारंभिक जीवन में उन्होंने पारंपरिक धार्मिक शिक्षा प्राप्त की और संन्यास ग्रहण किया। किंतु संन्यास लेने के बाद भी वे सामाजिक यथार्थ से विमुख नहीं हुए।[1] बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में भ्रमण के दौरान उन्होंने किसानों की दयनीय स्थिति को निकट से देखा।

**उनकी वैचारिक दृष्टि पर तीन प्रमुख तत्वों का प्रभाव था –**

- भारतीय दर्शन और वेदांत
- राष्ट्रीय आंदोलन की चेतना
- मार्क्सवादी वर्ग–संघर्ष की अवधारणा

उन्होंने धर्म को सामाजिक मुक्ति का साधन माना, न कि शोषण को वैध ठहराने का उपकरण। यही कारण है कि वे परंपरागत ब्राह्मणवादी संरचनाओं और सामंती शक्तियों के आलोचक बने।

**औपनिवेशिक भारत में किसान प्रश्न**

ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय कृषि व्यवस्था गहरे संकट में थी। स्थायी बंदोबस्त, रैयतवारी और महालवारी व्यवस्थाओं ने किसानों पर भारी आर्थिक बोझ डाला। बिहार में जमींदारों का वर्चस्व अत्यंत क्रूर था। किसान उच्च्य लगान, बेदखली और बेगार से पीड़ित थे।

---

* शोध छात्रा, इतिहास विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया
Mob. : 7033569674

किसानों के पास न तो भूमि पर स्वामित्व था और न ही प्रशासन में कोई प्रभाव। औपनिवेशिक सत्ता जमींदारों के साथ मिलकर किसानों का दमन करती थी। इस पृष्ठभूमि में किसान आंदोलन का उभार ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया।

**बिहार में किसान आंदोलन और स्वामी सहजानन्द की भूमिका**

बिहार किसान आंदोलन का वास्तविक संगठित स्वरूप स्वामी सहजानन्द सरस्वती के नेतृत्व में ही उभरा। उन्होंने 1929 में बिहार प्रांतीय किसान सभा की स्थापना की। यह संस्था किसानों के लिए एक मंच बनी, जहाँ वे अपनी समस्याओं को संगठित रूप से उठा सके। स्वामी सहजानन्द ने किसानों को यह समझाया कि उनकी गरीबी ईश्वर की इच्छा नहीं, बल्कि सामाजिक और आर्थिक शोषण का परिणाम है।[2] उन्होंने किसानों को लगान–बंदी, बेदखली विरोध और भूमि अधिकार के लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया।

उनकी सभाओं और भाषणों में सरल भाषा, व्यावहारिक उदाहरण और वैचारिक स्पष्टता दिखाई देती थी। उन्होंने किसान आंदोलन को भावनात्मक न होकर संगठित और अनुशासित संघर्ष का रूप दिया।

**अखिल भारतीय किसान सभा और राष्ट्रीय स्तर पर आंदोलन**

1936 में लखनऊ में अखिल भारतीय किसान सभा (AIKS) की स्थापना हुई, जिसके प्रथम अध्यक्ष स्वामी सहजानन्द सरस्वती बने। यह भारतीय किसान आंदोलन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ था। किसान प्रश्न अब केवल क्षेत्रीय न रहकर राष्ट्रीय विमर्श का हिस्सा बन गया।

अखिल भारतीय किसान सभा ने जमींदारी उन्मूलन, लगान में कमी, कृषि ऋण माफी और भूमि सुधार जैसे मुद्दों को प्रमुखता से उठाया। स्वामी सहजानन्द ने किसान आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ते हुए भी उसकी स्वतंत्र पहचान बनाए रखी।

**कांग्रेस, वामपंथ और सहजानन्द सरस्वती**

स्वामी सहजानन्द सरस्वती का कांग्रेस के साथ संबंध जटिल रहा। प्रारंभ में वे कांग्रेस से जुड़े, किंतु शीघ्र ही उन्हें यह अनुभव हुआ कि कांग्रेस का नेतृत्व प्रायः जमींदारों और पूंजीपतियों के हितों से समझौता करता है। वे वामपंथी विचारधारा के निकट आए और किसान आंदोलन को वर्ग–संघर्ष के रूप में देखने लगे। हालांकि उन्होंने कभी भी किसान आंदोलन को केवल किसी एक राजनीतिक दल तक सीमित नहीं किया। उनका लक्ष्य किसानों की वास्तविक मुक्ति था, न कि सत्ता प्राप्ति।

**लेखन और वैचारिक योगदान**

स्वामी सहजानन्द सरस्वती एक सशक्त लेखक भी थे। उनकी प्रमुख रचनाएँ जैसे – मेरा जीवन संघर्ष, किसान क्या करें, खेती और किसान इन कृतियों में किसान जीवन की वास्तविक समस्याएँ, जमींदारी व्यवस्था की आलोचना और सामाजिक परिवर्तन का स्पष्ट दृष्टिकोण मिलता है। उनका लेखन अनुभवजन्य, तर्कसंगत और प्रेरणादायक है।

**किसान आंदोलन की सीमाएँ और चुनौतियाँ**

हालाँकि स्वामी सहजानन्द के प्रयासों से किसान आंदोलन को व्यापक समर्थन मिला, फिर भी इसे अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ा। औपनिवेशिक दमन, आंतरिक वैचारिक मतभेद, कांग्रेस और वामपंथ के बीच टकराव तथा स्वतंत्रता के बाद सत्ता की प्राथमिकताओं में परिवर्तन से किसान आंदोलन की तीव्रता कम हुई।[3] फिर भी यह कहना अनुचित होगा कि आंदोलन असफल रहा। भूमि सुधार और जमींदारी उन्मूलन जैसी नीतियों पर किसान आंदोलन का गहरा प्रभाव पड़ा।

**स्वतंत्रता के बाद सहजानन्द सरस्वती की प्रासंगिकता**

स्वतंत्रता के बाद भी स्वामी सहजानन्द सरस्वती किसानों की स्थिति से संतुष्ट नहीं थे। उनका मानना था कि राजनीतिक स्वतंत्रता तब तक अधूरी है, जब तक आर्थिक और सामाजिक न्याय स्थापित न हो। आज के संदर्भ में भी जब कृषि संकट, किसान आत्महत्या और भूमि अधिग्रहण जैसे मुद्दे सामने हैं, स्वामी सहजानन्द के विचार अत्यंत प्रासंगिक प्रतीत होते हैं।

**साहित्य समीक्षा**

भारतीय किसान आंदोलन और उसमें स्वामी सहजानन्द सरस्वती की भूमिका पर पर्याप्त ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय एवं राजनीतिक साहित्य उपलब्ध है।

**बी.एच. टॉमलिन्सन** (B-H- Tomlinson) ने अपनी कृति The Economy of Modern India में ब्रिटिश काल की कृषि व्यवस्था को शोषणपरक बताया है। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि स्थायी बंदोबस्त और जमींदारी प्रथा

ने किसान वर्ग को आर्थिक रूप से पंगु बना दिया। यद्यपि उनका अध्ययन संरचनात्मक है, परंतु उसमें स्वामी सहजानन्द जैसे किसान नेताओं की वैचारिक भूमिका पर सीमित चर्चा मिलती है।

**धर्म कुमार**[4] ने Land and Caste in South India में भूमि, जाति और सत्ता के अंतर्संबंधों का विश्लेषण किया है। उनका निष्कर्ष है कि किसान आंदोलन केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय से भी जुड़ा हुआ था। हालांकि यह अध्ययन क्षेत्रीय है और बिहार के किसान आंदोलन तथा सहजानन्द सरस्वती पर प्रत्यक्ष रूप से केंद्रित नहीं है। बिहार किसान आंदोलन पर हुए अध्ययनों में स्वामी सहजानन्द सरस्वती को केंद्रीय स्थान प्राप्त है।

**कपिल कुमार**[5] ने Peasant Movement in Bihar में 1920–1940 के दशक के किसान संघर्षों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। वे सहजानन्द सरस्वती को बिहार किसान आंदोलन का "वैचारिक वास्तुकार" मानते हैं। कुमार के अनुसार, सहजानन्द ने किसानों को धार्मिक भ्रम से बाहर निकालकर वर्गीय चेतना प्रदान की। यह अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, किंतु इसमें सहजानन्द के लेखन की वैचारिक गहराई का तुलनात्मक विश्लेषण अपेक्षाकृत कम है।

**डी.एन. दास**[6] ने अपने शोध में बिहार प्रांतीय किसान सभा की भूमिका का मूल्यांकन किया है। उन्होंने माना कि सहजानन्द के नेतृत्व में किसान सभा ने जमींदारी व्यवस्था की वैधता को चुनौती दी। परंतु दास का अध्ययन संगठनात्मक पक्ष तक अधिक सीमित है और वैचारिक संघर्ष पर कम प्रकाश डालता है।

स्वयं स्वामी सहजानन्द सरस्वती की आत्मकथा मेरा जीवन संघर्ष किसान आंदोलन के अध्ययन का प्राथमिक स्रोत है। इसमें उन्होंने अपने जीवन अनुभवों, जमींदारों के अत्याचार और किसान आंदोलन की रणनीतियों का वर्णन किया है। यह रचना आत्मानुभव पर आधारित होने के कारण अत्यंत प्रामाणिक है, किंतु इसमें आत्मसमर्थन की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है।

**रामचन्द्र गुहा**[7] ने किसान आंदोलनों को पर्यावरण और सामाजिक इतिहास के व्यापक संदर्भ में देखा है। वे सहजानन्द को गांधीवादी आंदोलन से अलग एक अधिक उग्र किसान नेता मानते हैं। गुहा का दृष्टिकोण आलोचनात्मक है, परंतु उनका फोकस राष्ट्रीय स्तर पर है, जिससे बिहार के संदर्भ में गहराई अपेक्षाकृत कम हो जाती है।

**सुमित सरकार**[8] ने Modern India में किसान आंदोलनों को राष्ट्रवादी आंदोलन के अंतर्विरोधों के रूप में प्रस्तुत किया है। वे सहजानन्द को उस वर्गीय चेतना का प्रतिनिधि मानते हैं, जो कांग्रेस के उदारवादी दृष्टिकोण से असहमत थी। यह अध्ययन वैचारिक रूप से समृद्ध है, परंतु सहजानन्द के धार्मिक–सामाजिक दृष्टिकोण का सम्यक् विश्लेषण नहीं करता।

**इरफान हबीब**[9] के अनुसार किसान आंदोलन भारतीय समाज में वर्गीय चेतना के विकास का महत्वपूर्ण चरण था। वे सहजानन्द को किसान वर्ग के जैविक बुद्धिजीवी (Organic Intellectual) के रूप में देखते हैं। यह विश्लेषण सैद्धांतिक रूप से सशक्त है, किंतु इसमें सहजानन्द के धार्मिक और सांस्कृतिक पक्ष को गौण मान लिया गया है।

**ए.आर. देसाई**[10] ने किसान आंदोलनों को औपनिवेशिक पूंजीवाद की प्रतिक्रिया बताया है। उनका मानना है कि सहजानन्द का आंदोलन सामंती ढाँचे को तोड़ने की दिशा में एक निर्णायक कदम था। हालांकि देसाई का अध्ययन संरचनात्मक अधिक और व्यक्तिनिष्ठ कम है।

**रामवृक्ष बेनीपुरी**[11] ने अपने निबंधों में सहजानन्द को "किसानों का सच्चा संन्यासी" कहा है। उनके लेख भावनात्मक और प्रेरणादायक हैं, परंतु अकादमिक विश्लेषण की दृष्टि से सीमित हैं। धर्मवीर भारती और नागार्जुन जैसे साहित्यकारों की रचनाओं में किसान चेतना और सहजानन्द के प्रभाव की अप्रत्यक्ष झलक मिलती है। यह साहित्य सामाजिक इतिहास को समझने में सहायक है, किंतु प्रत्यक्ष ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत नहीं करता।

**उद्देश्य :–**

1. स्वामी सहजानन्द सरस्वती के जीवन और वैचारिक पृष्ठभूमि का ऐतिहासिक अध्ययन करना।
2. इसके अंतर्गत उनके संन्यासी जीवन, सामाजिक चेतना और किसान हितैषी दृष्टिकोण के विकास को समझना।
3. औपनिवेशिक भारत में किसान समस्या की प्रकृति और कारणों का विश्लेषण करना।
4. विशेष रूप से जमींदारी प्रथा, लगान व्यवस्था, बेदखली और बेगार जैसी शोषणकारी प्रणालियों का अध्ययन करना।

5. बिहार किसान आंदोलन में स्वामी सहजानन्द सरस्वती की भूमिका का समग्र मूल्यांकन करना।

**परिकल्पना**

1. औपनिवेशिक भारत में किसान आंदोलन के संगठनात्मक और वैचारिक विकास में स्वामी सहजानन्द सरस्वती की भूमिका निर्णायक रही।
2. बिहार किसान आंदोलन को व्यापक जनाधार प्रदान करने में स्वामी सहजानन्द सरस्वती के नेतृत्व, भाषणों और लेखन का महत्वपूर्ण योगदान रहा।
3. स्वामी सहजानन्द सरस्वती द्वारा उठाए गए किसान प्रश्न केवल आर्थिक न होकर सामाजिक, सांस्कृतिक और वर्गीय शोषण से भी गहराई से जुड़े थे।
4. अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना ने भारतीय किसान आंदोलन को क्षेत्रीय सीमाओं से निकालकर राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित किया।
5. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नीतियाँ किसानों की समस्याओं के समाधान में सीमित सिद्ध हुईं, जिसके परिणामस्वरूप स्वामी सहजानन्द सरस्वती का कांग्रेस से वैचारिक मतभेद उत्पन्न हुआ।

**निष्कर्षः** निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि स्वामी सहजानन्द सरस्वती भारतीय किसान आंदोलन के शिल्पकार थे। उन्होंने किसानों को केवल शोषण के विरुद्ध खड़ा ही नहीं किया, बल्कि उन्हें अपने अधिकारों के प्रति सजग नागरिक बनाया। उनका आंदोलन सामाजिक न्याय, वर्ग चेतना और लोकतांत्रिक संघर्ष का प्रतीक था।

ऐतिहासिक दृष्टि से स्वामी सहजानन्द सरस्वती का योगदान केवल किसान आंदोलन तक सीमित नहीं है, बल्कि वह भारतीय सामाजिक आंदोलन की व्यापक परंपरा का एक महत्वपूर्ण अध्याय है। उनके विचार और संघर्ष आज भी भारतीय लोकतंत्र और कृषि नीति के लिए प्रेरणा का स्रोत हैं।

## संदर्भ सूची

1. स्वामी सहजानन्द सरस्वती (2011) मेरा जीवन संघर्ष, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, पृ. 192
2. स्वामी सहजानन्द सरस्वती (2008) किसान क्या करें. पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद. पृ. 88
3. स्वामी सहजानन्द सरस्वती (2010) खेती और किसान, वाराणसी, लोकभारती प्रकाशन. पृ. 63
4. कुमार, धर्म (1992) भूमि, जाति और सत्ता नई दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस. पृ. 133
5. कुमार, कपिल (2005) बिहार में किसान आंदोलन, नई दिल्ली, सामाजिक विज्ञान प्रकाशन, पृ. 115
6. दास, दिनेश नारायण (1998) बिहार का कृषक संघर्ष, पटना, जनशक्ति प्रकाशन, पृ. 69
7. गुहा, रामचन्द्र, (2015) भारत : एक इतिहास (हिन्दी अनुवाद). नई दिल्ली, पेंगुइन इंडिया. पृ. 311
8. सरकार, सुमित, (2012) आधुनिक भारत (1885–1947) (हिन्दी अनुवाद) नई दिल्ली, मैकमिलन इंडिया. पृ. 112
9. हबीब, इरफान (2006) औपनिवेशिक भारत में किसान और राज्य. नई दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस. पृ. 98
10. देसाई, अखिलेश्वर रमेशचंद्र (2004), भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि (हिन्दी अनुवाद). नई दिल्ली, वाणी प्रकाश, पृ. 230
11. बेनीपुरी, रामवृक्ष, (2003) किसान जीवन और संघर्ष, पटना, साहित्य सदन, पृ. 63

◀◀ ▶▶

# काशी की सांस्कृतिक विरासत और चित्रकला का विकासात्मक अध्ययन

चन्दा यादव*

**सारांश**

*यह अध्ययन काशी (वाराणसी) की सांस्कृतिक विरासत की परीक्षण करती है। उसकी चित्रकला परंपरा के विकासात्मक अध्ययन पर केन्द्रित है। विश्व की प्राचीनतम जीवित सांस्कृतिक नगरी काशी के रूप में यह अपनी धार्मिक आस्था, आध्यात्मिक चेतना, लोक–संवेदना और सामाजिक जीवन के विविध आयामों को अपनी कला में संजोया है। इस अध्ययन में प्राचीन मंदिर–आधारित चित्र परंपराओं से लेकर मुगल प्रभाव, औपनिवेशिक काल की कंपनी शैली तथा आधुनिक और समकालीन चित्रकला तक की विकास–यात्रा का विश्लेषण किया गया है। गंगा, घाट, मंदिर, तपस्वी और धार्मिक प्रदर्शन जैसे दृश्य–प्रतीकों को केवल विषय–वस्तु नहीं, बल्कि जीवन, मृत्यु, निरंतरता और पारलौकिकता, सांस्कृतिक और दार्शनिक अर्थों के संवाहक के रूप में समझने का प्रयास किया गया है। शोध यह प्रतिपादित करता है कि काशी की चित्रकला केवल सौंदर्यबोध की अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि सांस्कृतिक स्मृति, आध्यात्मिक अनुभव और सामाजिक परिवर्तन की निरंतर प्रक्रिया का जीवंत दस्तावेज है।*

**की वर्ड–** काशी, चित्रकला परंपरा, प्रतीकवाद, गंगा, घाट, मंदिर, दीप, आध्यात्मिकता, आधुनिक कला, दृश्य–भाषा, भारतीय कला इतिहास, सांस्कृतिक विरासत, दार्शनिक अभिव्यक्ति।

**परिचय**

वाराणसी, जिसे काशी और बनारस के नाम से भी जाना जाता है, विश्व के सबसे प्राचीन शहरों में से एक और भारतीय सभ्यता का एक जीवंत केंद्र माना जाता है। वैदिक काल से ही, यह आध्यात्मिक शिक्षा, दार्शनिक खोज, संगीत, साहित्य और विजुअल कलाओं का केंद्र रहा है। वाराणसी की सांस्कृतिक विरासत धार्मिक रीति–रिवाजों और पवित्र भूगोल से कहीं आगे तक फैली हुई है; यह पेंटिंग, मूर्तिकला, आर्किटेक्चर और पारंपरिक कारीगरी के अलग–अलग रूपों में गहराई से संजोई हुई है। विजुअल आर्ट्स के क्षेत्र में, शहर की पेंटिंग परंपरा आध्यात्मिकता, लोक संवेदनाओं और सामाजिक जीवन का एक अनोखा मेल दिखाती है। गंगा नदी, घाट, मंदिर की मीनारें, तपस्वी, रीति–रिवाज और रोज़मर्रा की शहरी ज़िंदगी जैसे मोटिफ़ सिर्फ़ तस्वीरों वाले विषय के तौर पर ही नहीं, बल्कि हमेशा रहने वाले सांस्कृतिक प्रतीकों के तौर पर भी सामने आते हैं। वाराणसी की तस्वीरें अक्सर जीवन और मृत्यु, जश्न और त्याग, स्थायित्व और क्षणभंगुरता के बीच दार्शनिक तालमेल को दिखाती हैं ।[1]

विभिन्न ऐतिहासिक चरणों, प्राचीन, मध्यकालीन, औपनिवेशिक और आधुनिकता में वाराणसी की चित्रकला परंपराएँ अपने आवश्यक सांस्कृतिक मूल को बनाए रखते हुए शैलीगत रूप से विकसित हुईं। मुगल लघु सौंदर्यशास्त्र का प्रभाव, औपनिवेशिक संरक्षण के तहत कंपनी स्कूल चित्रकला का उद्‌भव और आधुनिक भारतीय कला आंदोलनों द्वारा आकार दिए गए बाद के विकास ने सामूहिक रूप से शहर की कलात्मक शब्दावली में योगदान दिया[2]। वाराणसी से जुड़े कलाकारों ने लगातार स्थानीय अनुभवों का व्यापक दृश्य भाषाओं में अनुवाद किया, स्वदेशी प्रतीकों को बदलती तकनीकों और दृष्टिकोणों के साथ मिश्रित किया। रंगों का चमकदार उपचार, रेखाओं का लयबद्ध प्रवाह और घाटों और अनुष्ठान जीवन के चित्रण के आसपास की आध्यात्मिक आभा बनारस चित्रकला की विशिष्ट पहचान बन गई है। इस प्रकार, वाराणसी की चित्रात्मक परंपरा केवल एक सौंदर्य प्रयास के रूप में ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक स्मृति और आध्यात्मिक कल्पना के दृश्य संग्रह के रूप में कार्य करती है।[3]

**2. प्राचीन एवं मध्यकालीन चित्र परंपराएं**

प्राचीन काल से ही काशी (वाराणसी) में, मंदिर और मठों के दीवारों पर बनी भित्ति–चित्रों की समृद्ध परम्परा विद्यमान रही है जो भक्ति और शिक्षा, दोनों तरह के उद्‌देश्य को दर्शाती है। हालांकि, कई प्राकृतिक क्षरण, समय–समय पर हुए पुनर्निर्माण और ऐतिहासिक आकक्रमों के कारण अनेक चित्र नष्ट हो चुके हैं, फिर

*शोध छात्रा, ललित कला एवं संगीत विभाग, दीनदयाल उपाध्याय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

भी उपलब्ध साहित्यिक स्रोतो व बिखरे हुए विजुअल अवशेषों से स्पष्ट होता है कि धार्मिक आख्यान, पौराणिक कथाएं और महाकाव्य प्रसंग चित्रण के प्रमुख रूप से विश्व विख्यात विषय है। रामायण, महाभारत और अलग–अलग पौराणिक कहानियां चित्रों के माध्यम से धार्मिक शिक्षाओं और रीति–रिवाजों को दृश्य के रूप में प्रस्तुत करते है। इन चित्रों में यथार्थवादी प्रसतुत के बजाय प्रतीकात्मकता, शैलीगत रेखांकन और भावप्रधान रंग योजना पर महत्व दिया गया था, जिसमें सपाट बनावट, स्टाइलिश फिगर और आध्यात्मिक रूप से आवेशित रंग योजना का इस्तेमाल किया गया था। आइकनोग्राफी ने शास्त्रीय ग्रंथों में वर्णित पारंपरिक कैनन का पालन किया, जिससे कलात्मक अभ्यास और धार्मिक सिद्धांत के बीच निरंतरता सुनिश्चित हुई। इस तरह, प्राचीन काशी में चित्रकला ने न केवल अलंकरण के रूप में बल्कि एक दृश्य धर्मशास्त्र के रूप में भी काम किया, जो वास्तुशिल्प स्थान और सामूहिक स्मृति के भीतर आध्यात्मिक अर्थ को अंतर्निहित करता था।[4]

मध्यकालीन काल में, खासकर मुगल सांस्कृतिक प्रभाव के तहत, काशी का कलात्मक माहौल, लघु चित्रकला परंपराओं के साथ पारस्परिक विचार से विकसित हुआ। मुगल कार्यशाला तकनीकों का सुधार धीरे–धीरे क्षेत्रीय केंद्रों में फैल गया, जिससे बारीक ब्रशवर्क, जटिल विवरण और परिप्रेक्ष्य और स्थानिक संगठन के लिए अधिक सूक्ष्म दृष्टिकोण पेश किया गया। उस्ताद लालजी मुसव्विर जैसे कलाकारों ने लघु चित्र शैली को स्थानीय संदर्भों में ढालने, बनारस के लिए विशिष्ट रोजमर्रा की जिंदगी, त्योहारों और धार्मिक अनुष्ठानों और उत्सवों के साथ के दृश्यों को चित्रित करने से जुड़े हैं। फारसी सौंदर्य तत्व – संतुलित रचनाएं, सूक्ष्म छायांकन और सजावटी परिष्कार– स्वदेशी रंग प्रतीकवाद और आध्यात्मिक रूपांकनों के साथ सामंजस्यपूर्ण रूप से मिश्रित थे। इस संश्लेषण ने एक संकर दृश्य भाषा का निर्माण किया जिसने महानगरीय परिष्कार को शामिल करते हुए भक्ति तीव्रता को बनाए रखा। नतीजतन, एक ऐसी मिश्रित शैली का विकास हुआ, जिसमें स्थानीयता और वैश्विक प्रभाव दोनों का संतुलित रूप दिखाई देता है। इस प्रकार मध्यकालीन काशी की चित्र परंपरा सांस्कृतिक आदान–प्रदान और कलात्मक समन्वय का सशक्त उदाहरण प्रस्तुत करती है।[5]

**3. कंपनी शैली और औपनिवेशिक प्रभाव**

18वीं–19वीं शताब्दी में अंग्रेज़ी शासन के सुदृढ़ होने के साथ भारतीय कला–जगत में एक नवीन शैली का उदय हुआ, जिसे "कंपनी शैली" या "कंपनी स्कूल" के नाम से जाना जाता है। यह शैली ईस्ट इंडिया कंपनी के देखरेख में विकसित हुई, जहाँ भारतीय कलाकारों ने यूरोपीय संरक्षकों की मांग के अनुसार अपनी पारंपरिक शैली में परिवर्तन किया। काशी (बनारस) जैसे सांस्कृतिक नगर इस शैली के महत्वपूर्ण केंद्र बने। स्थानीय कलाकारों ने यूरोपीय तकनीकों–विशेषतः रैखिक परिप्रेक्ष्य (linear perspective), प्रकाश–छाया (chiaroscuro) के प्रभाव, तथा स्थापत्य के यथार्थवादी चित्रण को अपनाया। बनारस के घाट, मंदिरों की श्रृंखला, गंगा तट के दृश्य, धार्मिक अनुष्ठान, साधु–संतों का जीवन तथा दैनिक गतिविधियाँ विदेशी अधिकारियों, यात्रियों और विद्वानों के लिए चित्रित की जाती थीं। इन चित्रों में दृश्य की वास्तविकता को सूक्ष्मता से चित्रण करने का प्रयास किया गया है, जिससे वे केवल कलात्मक कृतियाँ न होकर दृश्य–इतिहास (visual documentation) का रूप ले लेते हैं।[6]

इन चित्रों की विशेषता उनके स्थापत्य विवरण की सटीकता, संतुलित संरचना तथा गहराई उत्पन्न करने हेतु परिप्रेक्ष्य के प्रयोग में निहित है। पारंपरिक भारतीय प्रतीकात्मकता और यूरोपीय यथार्थवादी दृष्टिकोण के समन्वय से एक मिश्रित शैली का निर्माण हुआ, जिसने काशी की सांस्कृतिक पहचान को एक नए आयाम में प्रस्तुत किया। कंपनी शैली के माध्यम से बनारस के घाटों और धार्मिक जीवन की छवि यूरोप तक पहुँची, जिससे यह नगर अंतरराष्ट्रीय दर्शकों के लिए आकर्षण का केंद्र बना। इस प्रकार कंपनी शैली केवल कलात्मक प्रयोग नहीं थी, बल्कि सांस्कृतिक आदान–प्रदान और औपनिवेशिक प्रभावों का सशक्त उदाहरण भी था, जिसने काशी की चित्रकला को वैश्विक परिप्रेक्ष्य में स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[7]

**4. आधुनिक काल और काशी की चित्रकला**

1916 में स्थापित बनारस हिंदू विश्वविद्यालय ने बीसवीं शताब्दी के दौरान काशी में कला शिक्षा के लिए एक संस्थागत ढांचा प्रदान करने में निर्णायक भूमिका निभाई। कलात्मक प्रशिक्षण के औपचारिककरण

और आधुनिक शैक्षणिक दृष्टिकोणों की शुरुआत के साथ, वाराणसी में चित्रकला ने प्रयोग और बौद्धिक जुड़ाव के एक नए चरण में प्रवेश किया। बंगाल स्कूल और राष्ट्रवादी कला आंदोलनों की व्यापक धाराओं से प्रभावित होकर, नंदलाल बोस और बेनोद बिहारी मुखर्जी जैसे लोगों से जुड़े या प्रेरित कलाकारों ने स्वदेशी सौंदर्यशास्त्र को आधुनिक संवेदनाओं के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया। इस संश्लेषण ने रचना, रंग मॉड्यूलेशन और सतह उपचार में नवीन तकनीकों को अपनाते हुए भारतीय विषयों, आध्यात्मिक प्रतीकवाद और क्षेत्रीय पहचान के साथ नए सिरे से जुड़ाव को प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप, काशी की चित्रकला परंपरा केवल प्रतिनिधित्व से आगे विकसित हुई और सांस्कृतिक चेतना में निहित चिंतनशील और व्याख्यात्मक आयामों को मूर्त रूप देने लगी।[8]

काशी के आधुनिक चित्रकारों को शहर की पवित्र भूगोल और जीवंत वास्तविकताओं से स्थायी प्रेरणा मिली। गंगा के किनारे घाट, शाम की आरती समारोह, ध्यान में लीन तपस्वी, नदी में बहती नावें और मंदिर वास्तुकला पर प्रकाश और छाया का परस्पर प्रभाव बार–बार आने वाले रूपांकन बन गए। हालांकि, पहले के वृत्तचित्र तरीकों के विपरीत, आधुनिक कलाकारों ने इन दृश्यों में भावनात्मक तीव्रता और आध्यात्मिक चमक भर दी। जीवंत लेकिन ध्यानपूर्ण रंग पैलेट, अभिव्यंजक ब्रशवर्क और गतिशील रैखिक लय ने न केवल भौतिक परिदृश्य बल्कि शहर की आध्यात्मिक आभा को भी व्यक्त किया। समकालीन अभ्यास में, कई कलाकारों ने काशी की ''आध्यात्मिक ऊर्जा'' के रूप में वर्णित करने के लिए अमूर्तता के साथ प्रयोग किया है – वास्तुशिल्प रूपों और अनुष्ठानिक इशारों को रंग और बनावट के प्रतीकात्मक विमानों में बदलना।

**5. विषय वस्तु और प्रतिकात्मकता**

काशी की पेंटिंग परंपरा गहन प्रतिकात्मक अभिव्यक्ति पर आधारित है। जहाँ दृश्य तत्व अपने प्रत्यक्ष अर्थ से आगे बढ़कर दार्शनिक और अध्यात्मिक विचारों को मूर्त रूप देते हैं। गंगा नदी, मंदिरों के शिखर, दीपक (दीप), साधु–संत तथा घाट–ये सभी केवल चित्रात्मक संरचना के अंग नहीं हैं, बल्कि सामूहिक स्मृति और आध्यात्मिक चिंतन के संवाहक हैं। गंगा जीवन, शुद्धि और मोक्ष का प्रतीक माना जाता है; प्रज्ज्वलित दीप ज्ञान, आशा और दैवी उपस्थिति का द्योतक है; जबकि घाट, जो भूमि और जल के मध्य स्थित संक्रमण–स्थल हैं, जीवन–चक्र–जन्म, जीवन, मृत्यु और पारलौकिक मुक्ति–के दार्शनिक अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। ऐतिहासिक समय में बार–बार पुनर्व्याख्या के ज़रिए, ये प्रतीक काशी की दृश्य भाषा की सांस्कृतिकक निरन्तरता और आध्यात्मिक की स्थायित्व की पुष्टि होती है।[9]

साथ ही, चित्रकारों ने सामाजिक परिवर्तन, शहरीकरण और वैश्वीकरण जैसी समकालीन शक्तियों को भी अपने कृतियों में स्थान दिया। जो आज के बनारस को दर्शाते हैं। आधुनिक चित्रों में अक्सर हमेशा रहने वाले रीति–रिवाजों के दृश्य के साथ आधुनिक अवसंरचना, भीड़–भाड़ वाले शहरी जीवन और बदलती सामाजिक–आर्थिक स्थितियों का समावेश दिखाई देता है। स्थायित्व और बदलाव का यह मेल बदलते हालात के बीच शहर के सांस्कृतिक चरित्र की मज़बूती को दिखाता है। पारंपरिक प्रतीकों को आज की चिंताओं के साथ जोड़कर, कलाकार एक बहुस्तरीय दृश्य विमर्श बनाते हैं जो पवित्र और लौकिक, ऐतिहासिक और वर्तमान के मध्य संवाद स्थापित करता है। इसलिए, काशी की पेंटिंग परंपरा में प्रतीकवाद स्थिर नहीं बल्कि गतिशील है – विरासत में मिली आस्था और जीते हुए अनुभव दोनों को दिखाने के लिए लगातार नए तरीके से व्याख्या की जाती है।[10]

**सामाजिक परिवर्तन और कलात्मक अभिव्यक्ति**

काशी की चित्रकला परंपरा में, सामाजिक परिवर्तन एक महत्वपूर्ण प्रेरक के रूप में उभरा है जिसने कलाकारों को विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक विषयों से आगे बढ़ने और समकालीन जीवन की जटिलताओं से जुड़ने के लिए मार्गदर्शन किया है। औद्योगीकरण, शहरीकरण, पर्यटन, वैश्वीकरण और बदलती सामाजिक संरचनाओं जैसी प्रक्रियाओं ने शहर के दृश्य और सांस्कृतिक परिदृश्य को बदल दिया है और ये परिवर्तन कलात्मक अभिव्यक्ति में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं। आधुनिक चित्रकार अक्सर भीड़–भाड़ वाले शहरी दृ श्यों, पर्यावरण संबंधी चिंताओं, बदलती जीवन शैली और विस्तारित बुनियादी ढांचे के साथ–साथ घाटों पर पारंपरिक अनुष्ठानों को दर्शाते हैं। नतीजतन, काशी में कला अब केवल आध्यात्मिक प्रतिनिधित्व तक सीमित नहीं है, बल्कि सामाजिक वास्तविकताओं को व्यक्त करने का एक शक्तिशाली माध्यम बन गई है। निरंतरता और परिवर्तन के बीच इस संवाद के माध्यम से, काशी की चित्रकला परंपरा एक जीवंत सांस्कृतिक दस्तावेज के रूप में कार्य करती है।

## निष्कर्ष

काशी की सांस्कृतिक विरासत और पेंटिंग की परंपरा एक सतत एवं बदलती हुई कलात्मक यात्रा दिखाती है, जिसमें प्राचीन भक्ति वाले प्रधान भित्ति चित्रों से लेकर, मध्यकालीन शैलीगत समन्वय, औपनिवेशिक प्रभाव और आधुनिक प्रयोगधर्मिता तक का व्यापक विस्तार सम्मिलित है। यह बदलाव सिर्फ़ स्टाइल में बदलाव से कहीं ज्यादा है; यह शहर के आध्यात्मिक माहौल में बसी सांस्कृतिक चेतना की हमेशा रहने वाली अभिव्यक्ति को दिखाता है। सदियों से, कलाकारों ने वाराणसी की पवित्र स्थानों, रीति–रिवाजों और सामूहिक सोच का इस्तेमाल करके एक ऐसी दृश्य भाषा बनाई है जो एक ही समय में क्षेत्रीय और सार्वभौमिक है। आध्यात्मिकता, लोक संवेदनाओं और सामाजिक सच्चाई का मेल काशी की चित्रकला को भारतीय कला के बड़े इतिहास में एक विशिष्ट स्थान प्रदान करता है। आखिरकार, वाराणसी का दृश्य संस्कृति शहर की इस तथ्य का सशक्त प्रमाण है कि यह नगर परिवर्तन को अपनाते हुए भी निरंतरता बनाए रखता है–कला की अभिव्यक्ति को आस्था, पहचान और सांस्कृतिक यादों के एक जीते–जागते पुरालेख में परिवर्तित कर देता है।[11]

## संदर्भ–ग्रन्थ

1. Singh, Rana P. B. *Banaras: Making of India's Heritage City*. Cambridge Scholars Publishing, 2009.
2. Archer, W. G. *Company Paintings: Indian Paintings of the British Period*. London, 1955.
3. Mitter, Partha. *Indian Art*. Oxford University Press, 2001.
4. Brown, Percy. *Indian Painting*. Calcutta: Thacker & Co., 1924.
5. Archer, W. G. *Indian Miniatures*. London: Victoria and Albert Museum, 1960.
6. Archer, W. G. *Company Paintings: Indian Paintings of the British Period*, London, 1955.
7. Mitter, Partha. *Indian Art*. Oxford University Press, 2001.
8. Mitter, Partha. *Indian Art*. Oxford University Press, 2001.
9. Singh, Rana P. B. *Banaras: Making of India's Heritage City*. Cambridge Scholars Publishing, 2009.
10. Asher, Catherine B. *Art of India: Prehistory to the Present*. Thames & Hudson, 2014.
11. Kramrisch, Stella. *The Art of India*. London: Phaidon Press, 1954.

# उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्र–छात्राओं की धार्मिक अभिवृत्ति का आधुनिकीकरण से सम्बन्धों का तुलनात्मक अध्ययन

**डॉ. सुरेन्द्र यादव***

**सारांश :**

*''आधुनिक युग विज्ञान और प्रौद्योगिकी का है। वैज्ञानिकों ने जो भी आविष्कार या शोध किये हैं निःसंकोच समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं तथा मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन में भारी बदलाव आया है किन्तु सामाजिक व्यवस्था, नैतिक व्यवस्था एवं आध्यात्मिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए धर्म के पावदान पर पैर रखे बिना सम्भव नहीं है। आज धर्म एवं आधुनिकता जीवन के महत्वपूर्ण अंग बने हैं तथा इन दोनों का पोषण 'शिक्षा' के द्वारा होता रहता है। शिक्षा आधुनिकीकरण प्राप्त करने में सहायक होती है और आधुनिकता से एक बेहतर शिक्षा का निर्माण हो सकता है। धर्म का अर्थ सामाजिक रूप से ही लिया जाता है। समाज सेवा को धर्म ही माना जाता है। धर्म को कुछ लोग संकीर्ण दृष्टि एवं बाहरी आडम्बर के रूप में भी देखते हैं। सुबह–शाम पूजा–पाठ में समय व्यतीत करना एवं बेईमानी पूर्ण व्यवहार विचार रखना, स्वार्थी रवैया अपनाना इत्यादि धार्मिक दोष की ओर संकेत करता है।* ***शिक्षाशास्त्री फ्रोवेल के अनुसार*** *''शिक्षा ऐसी प्रक्रिया है जो बालक में दैवीय तत्व का विकास करती है।''*[1]

***अरस्तु के अनुसार–*** *''शिक्षा ऐसी प्रक्रिया है जो मनुष्य को सत्यम्, शिवम् एवं सुन्दरम् का चिन्तन करने योग्य बना सके।'*[2]

*धर्म एवं आधुनिकीकरा में अटूट सम्बन्ध हैं। दोनों शब्दों को एक साथ रखने पर उनके बीच विरोधाभाष प्रतीत होता है। आधुनिकीकरण के लिए धर्म का होना आवश्यक है। धर्म आधुनिकीकरण में एक प्रमुख कारक की भूमिका निभाता है। जब व्यक्ति अपने धर्म एवं उसवके अतिरिक्त अन्य धर्मों के प्रति रूचि रखता है एवं उनके बारे में गहराई से जानने की कोशिश करता है तो उसके विचारों में उत्तरोत्तर परिवर्तन एवं परिमार्जन होता रहता है। विचारों में परिवर्तन होने से आधुनिकीकरण का प्रारम्भ होता है। आधुनिकीकरण से धर्म में उत्कृष्टता आती है। सन् 1995 में माजिद अलहद ने विकासशील देशों में नातेदारी व्यवस्था और आधुनिकीकरण का अध्ययन किया। निष्कर्ष में पाया कि जैसे–जैसे देश औद्योगीकृत होते जाते हैं, वैसे–वैसे उनके परिवार, रिश्तेदारी बन्धन तथा अन्य मूलभूत संस्थागत व्यवस्था उच्च विकसित समाजों की तरह होते जाते हैं। इंकेलस और स्मिथ ने नातेदारी प्रथा और आधुनिकीकरण को एक दूसरे के विरोधी माना है। लेवी ने कहा कि विस्तृत नातेदारी प्रथा आधुनिक औद्योगीकृत समाज में नहीं अपनायी जा सकती। इन्हीं तथ्यों के दृष्टिगत शोधार्थी ने उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की धार्मिक अभिवृत्ति का आधुनिकीकरण से सम्बन्धों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। परीक्षणोपरान्त उच्च माध्यमिक स्तर के अध्ययनरत् विद्यार्थियों की धार्मिक अभिवृत्ति में सार्थक अन्तर नहीं पाया गया तथा शून्य परिकल्पना स्वीकृत हुई।''*

**कुन्जी शब्द–** धार्मिक अभिवृत्ति, आधुनिकीकरण, क्रान्तिकारी परिमार्जन, समाजसेवा।

**प्रस्तावना :**

प्राचीनकाल से ही मनुष्य के जीवन और उसकी शिक्षा में धर्म का प्रमुख स्थान रहा है। प्राचीनकाल में शिक्षा धर्म से ओत प्रोत थी। अधिकतर भारतीय कर्म तथा पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। वे धर्म तथा विज्ञान को परस्पर विरोधी न मानकर एक दूसरे के पूरक समझते हैं।[3] धर्म को आतंकवाद के साथ जोड़ना सरासर गलत है। कोई भी धर्म किसी को भी नुकसान पहुँचाने की प्रेरणा नहीं देता क्योंकि जहाँ धर्म सत्य, अहिंसा, कर्तव्य और सदाचरण पर जोर देता है वहीं आतंकवाद इन सभी माननीय मूल्यों से परहेज करता दिखाई देता है।

* असिस्टेन्ट प्रोफेसर (एम0एड0 विभाग), दयानन्द वैदिक कॉलेज उरई (जालौन)
Email : ssydvcmed@gmail.com

अत्यन्त प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों में जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य होने के कारण मनुष्य आदिकाल से ही कुछ विशेष अलौकिक सत्ताओं में विश्वास करता रहा है जिसके फलस्वरूप उस प्रचलित अर्थ में धर्म का जन्म हुआ है।[4]

धर्म शब्द के अर्थ का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि इस शब्द की उत्पति 'धि' नामक धातु से हुई है जिसका अर्थ है धारण करना। इस शब्दार्थ की दृष्टि से धर्म की व्याख्या करते हुये महाभारत में यह कहा गया है कि जो समाज को धारण करे वह धर्म है। महर्षि कणाद द्वारा रचित 'वैशेषिक दर्शन' में धर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'धर्म वह है जो मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति तथा उसके कल्याण में सहायक हो।''[5]

**मनु** ने धर्म को व्यापक अर्थ में स्वीकार करते हुए धर्म के अनिवार्य दस लक्षण बताये हैं–

1. धैर्य, 2. क्षमा, 3. संयम या मनोनिग्रह, 4. अचौर्य अथवा चोरी न करना, 5. शौच या सभी प्रकार की स्वच्छता, 6. इन्द्रिय निग्रह, 7. विवेकशीलता, 8. विद्या अथवा सभी प्रकार का ज्ञान, 9. सत्य बोलना अर्थात् सदा सत्य के अनुरूप आचरण करना, 10 अक्रोध।[6]

उपर्युक्त विवचन से स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि–

1. धर्म मनुष्य की विशेष मनोदशा या अभिवृत्ति है जो उसके जीवन के सभी पक्षों को प्रभावित करती है।
2. यह अभिवृत्ति किसी सामान्य वस्तु अथवा विषय के प्रति उन्मुख न होकर समस्त मूल्यों, सद्गुणों, असीम शक्ति, पवित्रता एवं ज्ञान से परिपूर्ण किसी अलौकिक सत्ता की ओर उन्मुख होती है।
3. सामाजिक संस्था के रूप में धर्म के तीन महत्वपूर्ण पक्ष हैं जिन्हें सैद्धान्तिक पक्ष, संवेगात्मक पक्ष तथा क्रियात्मक पक्ष कहा जा सकता है।[7]

यद्यपि आधुनिकीकरण का अर्थ है आधुनिकता की ओर अग्रसर होना। आधुनिक शब्द का अर्थ वर्तमान से होता है। आधुनिकीकरण की एक प्रक्रिया है जिससे समाज में नये आविष्कारों, विचारों एवं उपलब्धियों से परिचित कराया जाता है।

आधुनिकीकरण की अवधारणा के पीछे तीन परिकल्पनायें कार्य करती हैं– प्रथम यह कि मनुष्य अपनी समस्याओं के समाधान व अपने लाभ के लिए शक्ति व ऊर्जा के अधिक से अधिक स्रोत ढूंढ़े। दूसरी परिकल्पना यह है कि उपरोक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वैयक्तिक व सामूहिक दोनों ही प्रकार के प्रयास किये जायें तथा तीसरी परिकल्पना इन जटिल संगठनों के सृजन व इन्हें चलाने के लिए सामाजिक संरचना व मूल्यों में व्यक्तित्व तथा अभिवृत्तियों के आमूलचूल परिवर्तन को मान्यता देती है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को प्रगतिशील एवं उन्नतशील बनाने में शिक्षा का अहम योगदान है। जिन समाज में शिक्षा का स्तर उन्नत होता है उन्हीं समाजों में आधुनिकता दिखाई देती है। भारत में शिक्षा के बढ़ते प्रचार एवं प्रसार के कारण ही आधुनिकीकरण के मूल्यों, औद्योगीकरण, नगरीकरण, नयी अर्थव्यवस्था, नयी प्रौद्योगीकरण और वैज्ञानिक खोजों को बढ़ावा मिला है। आधुनिकीकरण किसी देश की भौतिक संस्कृति में परिवर्तन होना ही नहीं अपितु उस देश के विश्वास, प्रथा, मूल्य तथा सर्वांगीण जीवन में परिमार्जन होना है।

**शोध अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व :**

वर्तमान मानव जीवन में धर्म एवं विज्ञान की महती आवश्यकता है। धर्म मानव की मूलभूत आवश्यकता है क्योंकि मनुष्य बिना धर्म के जीवित नहीं रह सकता। ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार से पौधा पानी व प्रकाश के बिना जीवित नहीं रह सकता है। राधाकृष्णन ने धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता पर बल देते हुये लिखा है कि– ''भारतीय परम्परा के अनुसार धार्मिक शिक्षा केवल जीविकोपार्जन का ही साधन नहीं है बल्कि यह मानवीय आत्माओं को सत्य की खोज के गुणों को विकसित करने का प्रशिक्षण है। यह दूसरा जन्म है। यदि हम केवल आधुनिक औद्योगिक एवं व्यावसायिक शिक्षा पर बल देकर आध्यात्मिक शिक्षा की उपेक्षा करेगें तो सामाजिक बर्बरता और राक्षस राज्य के आने में कोई कसर नहीं रह जायेगी।''[8]

उपर्युक्त विचारों एवं कथनों की सार्थकता एवं महत्ता को दृष्टिगत रखते हुये शोधार्थी ने निम्नलिखित शोध समस्या कथन किया–

**शोध समस्या कथन :**

**''उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की धार्मिक अभिवृत्ति का आधुनिकीकरण से सम्बन्धों का तुलनात्मक अध्ययन''।**

**शोध समस्या कथन में प्रयुक्त चरों का परिभाषीकरण :**

**करलिंगर (1986)** ने शोध समस्या के अर्थ को परिभाषित करते हुये कहा है कि– ''शोध समस्या एक प्रश्नात्मक वाक्य या कथन है जो प्रश्न करता है कि दो या दो से अधिक चरों के बीच कैसा सम्बन्ध है।''[9]

**उच्च्तर माध्यमिक स्तर–**

प्रस्तुत शोध अध्ययन में उच्चतर माध्यमिक से आशय कक्षा 11 से 12 की कक्षाओं से है।

**धार्मिक अभिवृत्ति–**

प्रस्तुत शोध अध्ययन में धार्मिक अभिवृत्ति से आशय मनुष्य की सर्वांगीण उन्नति तथा उसके कल्याण में सहायक मानवीय मूल्यों भरी सोच विचार से है।

**आधुनिकीकरण–**

प्रस्तुत शोध अध्ययन में आधुनिकीकरण से आशय समाज में नये आविष्कारों, विचारों एवं उपलब्धियों से है जो मानवीय समस्याओं के समाधान में अहम भूमिका का निर्वहन करती हैं।

आधुनिकीकरण से समााज शिक्षा का प्रचार–प्रसार होता है जिसके अन्तर्गत समाज अपने मूल्यों के अतिरिक्त अन्य समाजों के ऐसे विचारों, कार्यों आदर्शो एवं मूल्यों को अपनाता है जो उसके विकास में सहायक हो सकते हैं। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने आधुनिकीकरण के सम्बन्ध में कहा है कि ''विज्ञान और शिल्प विज्ञान की प्रगति को मन और आत्मा की प्रगति से संयुक्त किया जाना चाहिये।''[10]

**शोध अध्ययन के उद्देश्य :**

प्रस्तुत शोध अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

1. उच्च्तर माध्यमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की धार्मिक अभिवृत्ति का आधुनिकीकरण से सम्बन्धों का तुलनात्मक अध्ययन करना।

**शोध अध्ययन की परिकल्पना :**

प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोधकर्ता ने निम्नलिखित शून्य परिकल्पना का निर्माण किया है–

1. उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की धार्मिक अभिवृत्ति तथा आधुनिकीकरण में कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं है।

**एफ0जे0 मैकगुएन के अनुसार–** ''परिकल्पना दो या दो से अधिक चरों के बीच सम्भावित सम्बन्ध का एक परीक्षणीय कथन है।''[11]

**शोध अध्ययन का परिसीमांकन :**

समय, श्रम और सम्पत्ति को ध्यान में रखकर शोध की एक सीमा निश्चित करनी पड़ती है जिससे कार्य आसान हो जाता है। प्रस्तुत शोध केवल उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के कक्षा–11 तक सीमित है जो उरई तहसील जनपद जालौन के हैं। यह सभी विद्यालय उ0प्र0 बोर्ड प्रयागराज से सम्बन्धित है।

**प्रस्तुत अध्ययन की शोध विधि :**

प्रस्तुत शोध्या अध्ययन में शोधकर्ता द्वारा वर्णनात्मक अनुसंधान की सर्वेक्षण शोध विधि का प्रयोग किया गया है जो वर्तमान घटनाक्रमों का क्रमबद्ध एवं वस्तुनिष्ठ अध्ययन करती है।

**'करलिंगर (1986) के शब्दों में** ''सर्वेक्षण शोध में छोटे एवं बड़े जीवसंख्या का अध्ययन उसी जीवसंख्या से प्रतिदर्श का चयन करके किया जाता है ताकि समाजशास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक चरों के तुलनात्मक एवं अन्तरसम्बन्धों की खोज की जा सके।''[12]

**शोध अध्ययन की जनसंख्या :**

प्रस्तुत शोध अध्ययन में जनपद जालौन के तहसील उरई में स्थित समस्त उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत् समस्त विद्यार्थी शोध अध्ययन की जनसंख्या में शामिल हैं।

**शोध अध्ययन का प्रतिदर्श :**

प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोधकर्ता द्वारा समस्त जनसंख्या में से केवल 100 छात्र एवं छात्राओं का चयन प्रतिदर्श के रूप में किया है।

**शोध अध्ययन की प्रतिदर्श चयन विधि :**

प्रस्तुत शोध अध्ययन में स्तरीकृत यादृच्छिक प्रतिदर्श चयन विधि का प्रयोग किया गया है। यह वह सम्भाव्यता प्रतिचयन है जिसमें सम्पूर्ण जीवसंख्या को कई समाजमितीय समूहों अथवा स्तरों में विभाजित कर प्रतिदर्श का चयन किया जाता है।

**प्रतिदर्श चयन आकार :**

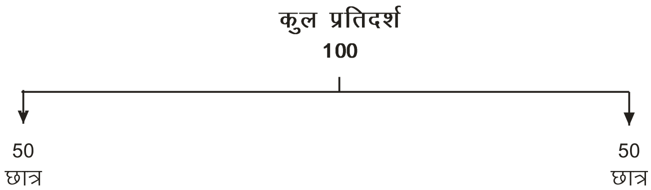


**शोध अध्ययन में प्रयुक्त उपकरण :**

प्रस्तुत शोध अध्ययन में **डॉ0 आर0 के0 ओझा (1978)** द्वारा निर्मित एवं मानकीकृत धार्मिक अभिवृत्ति मापनी का प्रयोग किया गया है। प्रस्तुत मापनी की विश्वसनीयता 0.71 तथा उच्च वैधता 9.79 पायी गयी है। इस मापनी में कुल 50 कथन है जिसके अधिकतम अंक 250 है।

**शोध अध्ययन में प्रयुक्त सांख्यिकीय विधियाँ :**

प्रस्तुत शोध अध्ययन में आनुमानिक सांख्यिकीय की मध्यमान, मानक विचलन, मानक त्रुटि एवं क्रान्तिक अनुपात आदि विधियों को प्रयुक्त किया गया है।

**परिकल्पना की सांख्यिकीय जाँच :**

प्रदत्तों के सांख्यिकीय जाँच हेतु निम्नलिखित शून्य परिकल्पना का निर्माण किया गया।

**परिकल्पना–**

उच्चतर माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों की धार्मिक अभिवृत्ति एवं आधुनिकीकरण में कोई सार्थक सहसम्बन्ध नहीं है।

**सारणी**

| क्रं.सं0 | चर | विद्यार्थियों की संख्या | सहसम्बन्ण गुणांक ($\gamma$) |
|---|---|---|---|
| 1. | धार्मिक अभिवृत्ति | 100 | 0.008 |
| 2. | आधुनिकीकरण | 100 | |

उपरोक्त सारणीमान से स्पष्ट है कि विद्यार्थियों की धार्मिक अभिवृत्ति और आधुनिकीकरण के बीच सहसम्बन्ध का मान 0.008 प्राप्त हुआ जो विद्यार्थियों के धार्मिक अभिवृत्ति और आधुनिकीकरण के बीच शून्य सहसम्बन्ध को प्रदर्शित करता है। अतः स्पष्ट है कि उच्च्तर माध्यमिक स्तर के छात्र एवं छात्राओं की धार्मिक अभिवृत्ति एवं आधुनिकीकरण में कोई सहसम्बन्ध नहीं पाया गया। परिणामस्वरूप शून्य परिकल्पना स्वीकृत हुई।

**शोध निष्कर्ष :**

प्रत्येक शोध कार्य का उद्देश्य किसी न किसी लक्ष्य पर पहुँचना होता है। वस्तुतः शोध कार्य की सार्थकता उसके निष्कर्षों में ही निहित होता है। प्रस्तुत शोध 'उच्चतर माध्यमिक स्तर के छात्र–छात्राओं की धार्मिक अभिवृत्ति का आधुनिकीकरण से सहसम्बन्ध का अध्ययन' किया गया। शोध अध्ययन में यू0पी0 बोर्ड से सम्बद्ध जनपद जालौन के उरई तहसील में आने वाले उच्च्तर माध्यमिक विद्यालयों मे अध्ययनरत् 100 विद्यार्थियों को प्रतिदर्श के रूप में सम्मिलित कर प्रदत्त संकलन एवं विश्लेषण किया। निष्कर्षोपरान्त उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत् छात्र एवं छात्राओं की धार्मिक अभिवृत्ति और आधुनिकीकरण के बीच कोई सहसम्बन्ध नहीं पाया गया तथा परिकल्पना स्वीकृत हुई।

**सन्दर्भ ग्रन्थ सूची**

1. पाण्डेय, रामशकल एंव ममता चतुवेदी (2013–14); उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, आगरा–2, अग्रवाल पब्लिकेशन, पृष्ठ सं0 7
2. वही, पृष्ठ सं0 7
3. वर्मा, वेद प्रकाश (2009); धर्मदर्शन की मूल समस्याएं, दिल्ली, भारत सरकार, मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय, चतुर्थ संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण, पृष्ठ सं0–प्राक्कथन
4. वही, पृष्ठ सं0– भूमिका
5. वही, पृष्ठ सं0–8

6. वही, पृष्ठ सं0–8
7. वही, पृष्ठ सं0–12
8. लाल, रमन बिहारी (2016); शिक्षा के दार्शनिक आधार, मेरठ, आर लाल बुक डिपो, नवीन संस्करण, पृ0सं0 201
9. सिंह, ए0के0 (2010); मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा शिक्षा में शोध विधियाँ, वाराणसी, मोतीलाल बनारसीदास, पुनर्मुद्रण, पृष्ठ सं0–37
10. पाण्डेय, रामशकल एवं ममता चतुर्वेदी (2013–14); उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक, आगरा–2, अग्रवाल पब्लिकेशन, पृष्ठ सं0 784
11. गुप्ता, एस0पी0 (2015); अनुसंधान संदर्शिका, इलाहाबाद शारदा पुस्तक भवन, नवीन संशोधित संस्करण, पृ0सं0 38
12. सिंह, ए0के0 (2010); मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा शिक्षा में शोध विधियाँ, वाराणसी, मोतीलाल बनारसीदास, पुनर्मुद्रण, पृ0सं0 96

- कपिल, एच0के0 (1981); अनुसंधान विधियाँ, आगरा, हरिप्रसाद भार्गव पुस्तक प्रकाशन।
- गुप्ता, एस0पी0 (2007); उच्चतर शिक्षा मनोविज्ञान, इलाहाबाद, शारदा पुस्तक भवन, नवीन संस्करण।
- बुच, एम0बी0 (1972); सेकेण्ड सर्वे आफ रिसर्च इन एजूकेशन, सोसाइटी फार एजूकेशनल रिसर्च एण्ड डेवलपमेन्ट, बरौदा, भारत।
- Shodganga.inflibnet.ac.in
- https://ndl.itlkjp.ac.in


◀◀ ▶▶

# हिंदी पत्रकारिता में जातिगत राजनीति
# (स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान)

रोहित रावत*

**शोध सार**

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान हिंदी पत्रकारिता में जाति और राष्ट्रवाद का अंतर्संबंध विवादास्पद था और उपनिवेशवाद विरोधी विमर्श के भीतर वैचारिक दरारों को उजागर करता था। जबकि राष्ट्रवादी समाचार-पत्रों ने एकीकृत भारतीय पहचान के आदर्श को बढ़ावा देने की कोशिश की, जाति आधारित असमानताएँ और सामाजिक न्याय की माँगें स्थानीय पत्रकारिता के भीतर कभी-कभी स्पष्ट रूप से और अक्सर निहित रूप से अभिव्यक्ति की जाती थी। हिंदी पत्रकारिता के प्रमुख हिंदी समाचार पत्रों और पत्रिकाओं ने राष्ट्रवादी आंदोलन के तीन प्रमुख चरणों, असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन और भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान जाति के मुद्दों को कैसे संबोधित किया और अखिल भारतीय एकता की बयानबाजी के भीतर जातिगत राजनीति कैसे उभरी?।

**मुख्य शब्द** - राष्ट्रवाद, जाति, पत्रकारिता, अस्पृश्यता, सामाजिक, न्याय

असहयोग आंदोलन के दौरान, हिंदी पत्रकारिता ने अहिंसा, स्वदेशी और हिंदू-मुस्लिम एकता के गांधीवादी विचारों का व्यापक रूप से समर्थन किया। हालाँकि, जाति के मुद्दों को अक्सर हाशिये पर धकेल दिया जाता या राष्ट्रीय मुक्ति के लक्ष्य के लिए गौण माना जाता था। आज जैसे समाचार पत्र, कांग्रेस के साथ जुड़े होने के बावजूद, कभी-कभी समानता की वकालत करने और जातिगत पदानुक्रम को सहन करने के विरोधाभासों को संबोधित करते थे। कुछ संपादकीय ने सामाजिक सुधार को राष्ट्र-विरोधी गतिविधि के बराबर मानने के खिलाफ लिखा, जो उन लोगों की परोक्ष आलोचना थी, जो तत्काल राजनीतिक स्वराज पर जाति उन्मूलन को प्राथमिकता देना चाहते थे। इसके विपरीत, हिंदी पट्टी में व्यापक रूप से पढ़ी जाने वाली पत्रिका कर्मवीर ने इस बात पर जोर दिया कि जातिगत उत्पीड़न का सामना किए बिना सच्ची स्वतंत्रता हासिल नहीं की जा सकती। पत्रिका ने ब्राह्मणवादी वर्चस्व और अस्पृश्यता को मिटाने की आवश्यकता पर आलोचनात्मक निबंध प्रकाशित किए।[1] यहां तक कि कांग्रेस से जुड़े समाचार पत्रों के भीतर भी कभी-कभी तनाव सामने आते थे, उदाहरण के लिए, 1921-22 के लीडर के संपादकीय में जातिगत भेदभाव को स्वीकार किया गया लेकिन 'विभाजनकारी' पहचान की राजनीति के खिलाफ चेतावनी दी गई।[2]

सविनय अवज्ञा आंदोलन ने इन बहसों को और तीव्र कर दिया। हरिजन सेवक संघ और हरिजन के प्रकाशन के माध्यम से अस्पृश्यता के खिलाफ गांधी के सक्रिय अभियान ने हिंदी पत्रकारिता को प्रभावित करना शुरू कर दिया था। प्रेमचंद के संपादकीय मार्गदर्शन में हंस ने दलितों के अनुभवों को मानवीय बनाने वाली कहानियाँ और निबंध प्रकाशित किए, जिनमें उनकी प्रसिद्ध कहानी "सद्गति" भी शामिल है। 1933 के संपादकीय में, प्रेमचंद ने जोर देकर कहा कि "अस्पृश्यता को सहन करने वाला राष्ट्रवाद एक धोखा है।"[3] यह एक दुर्लभ क्षण था जब साहित्यिक और पत्रकारिता के क्षेत्र राष्ट्रवादी विमर्श के भीतर जाति को केंद्र में लाने के लिए एकत्रित हुए। फिर भी, सभी समाचार पत्र समान रूप से प्रतिबद्ध नहीं थे। सरस्वती, साहित्यिक, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद पर अधिक ध्यान केंद्रित करती थी, शायद ही कभी अधिक विवादास्पद जातिगत बहसों में शामिल रही

---

* शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

[1] "Jati Nirmulan aur Azadi," *Karmaveer*, August 1921.

[2] *Leader* editorial, May 1922.

[3] Premchand, “Rashtravad aur Achhuton ka Sawaal,” *Hans*, February 1933.

हो। हालाँकि सरस्वती ने हिंदी भाषा के पुनर्जागरण में योगदान दिया, लेकिन इसने अक्सर संस्कृत गद्य को बढ़ावा देने और उच्च जाति के आदर्शों को महत्व देने के माध्यम से उच्च जाति के वर्चस्व को मजबूत किया।[4]

भारत छोड़ो आंदोलन, प्रिंट पत्रकारिता में जाति-आधारित लामबंदी देखी गई। आज और अमृत बाजार पत्रिका जैसे समाचार पत्रों ने अपने हिंदी संस्करणों में जाति-विशिष्ट मांगों, खासकर मंदिर में प्रवेश और शिक्षा तक पहुंच के बारे में रिपोर्ट करना जारी रखा। लीडर ने एक संपादकीय 1943 में लिखा, कि हाशिए पर पड़े समूहों की आकांक्षाओं को अनदेखा करना "राष्ट्रीय एकता की नींव को तोड़ सकता है।[5]

इस आंदोलन में बी.आर. अंबेडकर जैसे नेताओं की सक्रियता बढ़ी और उनकी आलोचनाओं को मुख्यधारा के हिंदी पत्रकारिता में दरकिनार कर दिया गया था, लेकिन जाति आधारित पत्रिकाएँ और पर्चे दलित कार्यकर्ताओं के बीच व्यापक रूप से प्रसारित हुए।[6] राष्ट्रवादी प्रेस के भीतर एक केंद्रीय विरोधाभास एक विलक्षण भारतीय पहचान के विचार और जाति आधारित समुदायों की मान्यता और न्याय की माँगों के बीच तनाव था। यह तनाव अक्सर संपादकीय स्तंभों में सामने आता था, जहाँ जाति सुधार को या तो राष्ट्रवादी उद्देश्य के हिस्से के रूप में अपनाया जाता था या असुविधाजनक आंतरिक मामले के रूप में दरकिनार कर दिया जाता था। उदाहरण के लिए, गणेश शंकर विद्यार्थी ने प्रताप का उपयोग यह तर्क देने के लिए किया कि जाति केवल एक सामाजिक बुराई नहीं है, बल्कि जन आंदोलन के लिए एक राजनीतिक बाधा है।[7] इसके विपरीत, लीडर अक्सर अधिक सतर्क रुख अपनाता था "अत्यधिक जातिगत चेतना" के खिलाफ चेतावनी देता था, जो व्यापक संघर्ष को पटरी से उतार सकती थी।[8] ये संपादकीय बहसें केवल अमूर्त वैचारिक संघर्ष नहीं थीं, यह ज़मीन पर वास्तविक तनावों को दर्शाती थीं, जहाँ कांग्रेस के नेतृत्व वाले आंदोलन अक्सर गैर-कुलीन जातियों की आकांक्षाओं को समायोजित करने में विफल रहे।

1932 के कम्युनल आवार्ड और अलग-अलग मतदाता सूचियों के विरुद्ध गांधी के अनशन ने इन तनावों को जनता के सामने ला दिया। हिंदी पत्रकारिता ने गांधी का समर्थन किया, हालाँकि कुछ समाचार पत्रों, विशेष रूप से अम्बेडकर समर्थक या गैर-कांग्रेसी विचारधारा वाले समाचार पत्रों ने, इस पर सन्देह व्यक्त किया। कर्मवीर ने पूना समझौते की आलोचना करते हुए तर्क दिया कि इससे दलितों को वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं मिला।[9] राष्ट्रवादी आंदोलन का एकता पर जोर अक्सर जाति-आधारित दावों को दबाने की कीमत पर आया। अभ्युदय के संपादक और बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के संस्थापक मदन मोहन मालवीय जैसे नेताओं ने अक्सर हिंदू एकता के एक ऐसे दृष्टिकोण को बढ़ावा दिया, जो बयानबाजी में समावेशी होने के साथ-साथ उच्च-जाति के नेतृत्व और सांस्कृतिक मानदंडों को भी मानता था।[10] अभ्युदय में उनके लेखन और प्रेस में छपे भाषणों ने सुझाव दिया कि जाति सुधार को स्वतंत्रता के बाद तक टाला जाना चाहिए, एक ऐसा दृष्टिकोण जिसने कई उत्पीड़ित समुदायों के लिए सामाजिक न्याय की तात्कालिकता को हाशिए पर डाल दिया।[11]

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान हिंदी पत्रकारिता ने जाति पर एक स्वर में नहीं बोला। इसके बजाय, राष्ट्रवादी एकजुटता और जाति न्याय की प्रतिस्पर्धी मांगों को प्रतिबिंबित किया। जबकि मुख्यधारा के राष्ट्रवादी समाचार पत्रों ने अक्सर जाति के मुद्दों को कम करके आंका या स्वतंत्रता के बड़े लक्ष्य के अधीन कर दिया, वैकल्पिक और साहित्यिक पत्रिकाओं, जाति आधारित पत्रिकाओं और कट्टरपंथी संपादकों ने सामाजिक

---

[4] Orsini Francesca, *The Hindi Public Sphere, 1920–1940*. 85–90.
[5] *Leader*, April 1943, “Jati aur Rashtravad.”
[6] Eleanor Zelliot, *From Untouchable to Dalit,* 78–80.
[7] Vidyarthi, *Pratap*, 1925.
[8] *Leader*, June 1932 editorial, “Caste Identity and Nationalism.
[9] *Karmaveer*, October 1932, “Poona Samjhauta: Daliton ki Haar ya Jeet?”
[10] *Abhyudaya*, 1928.
[11] Ibid.

असमानता को बातचीत में लाने की कोशिश की। हिंदी पत्रकारिता में स्वतंत्रता के अर्थ पर लगातार बहस होती रही, एकता और न्याय के बीच, राजनीतिक स्वराज और सामाजिक स्वराज के बीच।

औपनिवेशिक उत्तर भारत में पत्रकारिता और जाति व्यवस्था के बीच एक जटिल और अक्सर विरोधाभासी संबंध ज्ञात होता है। हिंदी पत्रकारिता एक शक्तिशाली मंच के रूप में उभरा जिसने न केवल जड़ जमाए हुए जातिगत पदानुक्रमों को चुनौती दी, बल्कि साथ ही जातिगत असमानता की उन्हीं संरचनाओं को फिर से पेश किया जिन्हें उसने कभी-कभी सुधारने की कोशिश की। एक ओर, गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे प्रताप अख़बार के संपादक उदार राष्ट्रवाद और गांधीवादी समतावाद से गहराई से प्रभावित थे, उन्होंने अस्पृश्यता की निंदा करने वाले संपादकीय प्रकाशित किए और हाशिए के समुदायों के उत्थान का आह्वान किया। उदाहरण के लिए प्रताप ने तथाकथित 'दलित वर्गों' के लिए सामाजिक अक्षमताओं को दूर करने की वकालत करने वाले लेख प्रकाशित किए, जिसमें राष्ट्रवादी आकांक्षाओं और जाति बहिष्कार के बीच विरोधाभास को उजागर किया गया।[12] इसी तरह 1930 के दशक की शुरुआत में प्रेमचंद द्वारा संपादित हंस ने काल्पनिक और गैर-काल्पनिक रचनाएँ प्रकाशित कीं, जो रोज़मर्रा की ज़िंदगी में जातिगत पूर्वाग्रहों पर सवाल उठाती थीं[13] प्रेमचंद जैसे लेखकों की रचनाएँ में जाति उत्पीड़न की क्रूरता को उजागर किया, जो सामाजिक अन्याय की आलोचना करने के लिए संपादकीय प्रतिबद्धता को दर्शाता है।

हालांकि, हिंदी प्रेस की संरचना में भी उच्च जाति के पूर्वाग्रह और अभिजात वर्ग के नियंत्रण को दर्शाया गया है। आज और सरस्वती पत्रिका जैसे प्रमुख हिंदी समाचार पत्रों का स्वामित्व, संपादन और उपभोग मुख्य रूप से उच्च जाति के हिंदुओं, ब्राह्मण, कायस्थ और बनिया के पास था, जिनके विश्वदृष्टिकोण ने समाचारों के चयन और रूपरेखा को प्रभावित किया। जैसा कि ज्ञानेंद्र पांडे ने उल्लेख किया है, प्रारंभिक राष्ट्रवादी प्रेस ने अक्सर हिंदू एकता की व्यापक भाषा के तहत जाति संघर्ष को शामिल किया, जब उन्होंने राष्ट्रवादी आम सहमति को तोड़ने की धमकी दी तो जाति की शिकायतों को प्रभावी ढंग से दबा दिया या कम कर दिया।[14] उदाहरण के लिए, 1920 और 1930 के दशक में आदि हिंदू लामबंदी जैसे दलित आंदोलनों की कवरेज आज जैसे मुख्यधारा के अखबारों में विरल या कृपालु थी, जिसने कांग्रेस की राजनीति और उच्च जाति के सुधार को प्रत्यक्ष जाति-आधारित कट्टरपंथ पर प्राथमिकता दी।[15]

सुधारवादी बयानबाजी और संरचनात्मक रूढ़िवाद के बीच यह द्वंद्व हिंदी पत्रकारिता की भूमिका को सामाजिक परिवर्तन के संभावित कर्ता और सामाजिक रूढ़िवाद के दर्पण के रूप में आकार देता है। जबकि पत्रकारिता ने कभी-कभी कट्टरपंथी जाति-विरोधी नेताओं या आंदोलनों को आवाज़ दी, यह आमतौर पर नियम के बजाय अपवाद था। जाटव महासभा जैसे जाति संगठनों को प्रमुख हिंदी समाचार पत्रों में शायद ही कभी नियमित प्रतिनिधित्व मिला हो। जब उनकी गतिविधियों को कवर किया जाता था, तो उन्हें अक्सर निम्न जाति की पहचान के स्वायत्त राजनीतिक दावों के बजाय उत्थान के संरक्षणवादी प्रवचन के भीतर रखा जाता था।[16]

यह विरोधाभास औपनिवेशिक भारत में स्थानीय पब्लिक स्फीयर की व्यापक दुविधा का प्रतीक है। जैसा कि फ्रांसेस्का ओरसिनी तर्क देती हैं, हिंदी पत्रिकाओं ने एक शिक्षित, राजनीतिक रूप से जागरूक हिंदू मध्यम वर्ग को आकार देने में मदद की, लेकिन यह क्षेत्र मुख्य रूप से संरचना और दृष्टिकोण में उच्च जाति

[12] Editorials in *Pratap*, 1926–1929.
[13] *Hans*,Premchand's editorials and stories, 1932–1934 editions.
[14] Pandey, *The Construction of Communalism in Colonial North India*,118–120.
[15] Ibid., 132–135.
[16] Charu Gupta, *Sexuality, Obscenity, Community*, 56–59.

का था, जिससे निचली जाति की आवाज़ें हाशिए पर या अदृश्य हो जाती थीं, जब तक कि वे मुख्यधारा के राष्ट्रवादी या सामाजिक सुधारवादी उद्देश के साथ जुड़ न सकें।[17]

पत्रकारिता में जाति पर बीसवीं सदी की शुरुआत में हुए इस विमर्श की विरासत ने स्वतंत्रता के बाद के प्रेस आख्यानों को आकार देना जारी रखा। 1947 के बाद, जबकि संवैधानिक लोकतंत्र ने कानूनी जातिगत भेदभाव को औपचारिक रूप से खत्म कर दिया, हिंदी पत्रकारिता में जाति का सामाजिक ढांचा सतर्क और रूढ़िवादी बना रहा। जातिगत हिंसा, आरक्षण और दलितों के दावे जैसे मुद्दों को अक्सर झिझक या पूर्वाग्रह के साथ कवर किया जाता था, जो राष्ट्रवादी युग के पत्रकारिता की विरासत में मिली सीमाओं को दर्शाता है। जैसा कि नंदिनी गुप्तू और चारु गुप्ता जैसे विद्वान बताते हैं, प्रेस संस्थानों पर उच्च जाति के प्रभुत्व ने सूक्ष्म बहिष्कार को बनाए रखा, जिससे उत्तर-औपनिवेशिक काल में बहुजन आवाज़ों का हाशिए पर रहना जारी रहा।[18] इस प्रकार हिंदी पत्रकारिता ने प्रगतिशील क्षमता और प्रतिक्रियावादी बाधा के एक साथ स्थल के रूप में कार्य किया, विशेष क्षणों में जातिगत अन्याय पर सवाल उठाने में सक्षम लेकिन मूल रूप से अपने उत्पादकों और दर्शकों की सामाजिक संरचना से बंधा हुई थी। जाति विमर्श को आकार देने में इसकी भूमिका आमूलचूल विच्छेद की नहीं बल्कि क्रमिक, विवादित वार्ता की थी, जिसने भारतीय सार्वजनिक जीवन में जाति सुधार की परियोजना में दुविधा और अपूर्णता की विरासत को पीछे छोड़ दिया।

◀◀ ▶▶

[17] Francesca Orsini, *The Hindi Public Sphere, 1920–1940*, 45–47.
[18] Nandini Gooptu, *The Politics of the Urban Poor in Early Twentieth-Century India* (Cambridge: Cambridge University Press, 2001), 200–205.

# पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन में वैदिक संस्कृतियों का योगदान : एक अध्ययन

**संदीप कुमार***
**डॉ. अमृत कुमार****

**सारांश**

*मनुष्य प्रकृतिक उपहारों से घिरा हुआ है, उसे पर्यावरण कहते हैं। पर्यावरण सृष्टि के लिए आवश्यक तत्व है, इसके बिना जीवों का अस्तित्व नहीं रह पायेगा। लेकिन आज लोगों में भौतिकवाद की लालसा इतनी प्रबल हो चुकी है कि संसाधनों का दुरुपयोग बड़े पैमाने पर किया जा रहा है। इसका दुष्परिणाम संकट के रूप में देख सकते हैं। यह संकट केवल देश को नहीं बल्कि विष्व को प्रभावित करती है। भारतवर्ष में इन संकटों से बचने के लिए वैदिक सांस्कृतिक परम्परा रही है। वैदिक ग्रंथों के अलावा अन्य धर्म ग्रंथों में पर्यावरण संतुलन के लिए उपदेश दिए गए हैं। ऋषिजनों के द्वारा प्रकृति के लिए शांति पाठ, हवन और घर के पास लाभकारी पौधे लगाने का विधान बताया गया है। वनों, जल एवं प्रकृति के प्रत्येक कण को देवतुल्य मानकर पूजा एवं संरक्षण करें, आज के औद्योगिक युग में हर क्षण खतरा है। इन खतरों से बचने का तरीका वैदिक परम्परा में नहिति है। इस परम्परा का अनुसरण कर पर्यावरण का संरक्षण एवं प्रबंधन कर जीव मात्र की रक्षा कर सकते हैं।*

**शब्द कुंजी :** प्रबंधन, संरक्षण, संस्कृति, आरण्यक, पंचतत्व, दायित्व, ज्वलंत, उत्कृष्ट।

**भूमिका**

भारतीय परम्परा में पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन की अनोखी परम्परा रही है। भारत की प्रथम नगरिय सभ्यता सिंधुघाटी में पर्यावरण के प्रति लोग सजग थे, प्रकृति की पूजा करते थे। विष्व के प्राचीनतम ग्रंथ वेद में पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन का उल्लेख मिलता है। हमारे पूर्वज प्रकृति प्रेमी थे जिसका परिचय वैदिक ग्रंथों में मिलता है। ऋषियों द्वारा पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन का सुझाव दिए गए हैं। सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप में घरों के समीप वृक्ष मौजूद होते थे जो प्रकृति के प्रति लगाव का संकेत देता है। उस समय प्रकृति शांत एवं शाम्य अवस्था में थी। भारतीय परम्परा में प्रकृति को ईष्वर माना गया है अर्थात वेद ग्रंथों में ईष्वर की पूजा को ब्रह्म की पूजा माना गया है। सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण पंचतत्व (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा) एवं ब्रह्म के सहयोग से हुआ है। इसके संरक्षण का दायित्व मानव का है क्योंकि मानव इसी से निर्मित होता है।[1]

जिस तरह शरीर सम्पूर्ण पोषक तत्व पाकर स्वस्थ रहता है ठीक उसी प्रकार प्रकृति के पंचतत्व वायु, जल, भूमि आदि के संतुलन से प्रकृति साम्य अवस्था अर्थात स्वस्थ रहती है। इस अवस्था में जीवन सकारात्मक एवं सुचारू रूप से कार्य करता है। इन पंचतत्व के असंतुलन के कारण जीव एवं पादप जगत पर भी हानिकारक प्रभाव डालेगा। जिसके वजह से जीवन शैली के दशा एवं दिशा पर अनिष्टकारी प्रभाव पड़ेगा।

ऋग्वेद वेदों में प्राचीन ग्रंथ है जिसमें पर्यावरण का उल्लेख भी मिलता है। इस ग्रंथ से पता चलता है कि पंचमहाभूत से ही ब्रह्मांड की उत्पत्ति हुआ है। हमारे ऋषिजनों का पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन के प्रति निर्देश सराहनीय रहा है। इस बात की जानकारी यजुर्वेद के सोलहवें एवं सत्रहवें श्लोक में मिलता है जिसमें बार–बार नमोवृक्षेभ्य की स्तुति किया गया है। इस प्रकार अन्य श्लोकों में औषधिना पतये नमः।[2]

वैदिक ग्रंथों में पर्यावरण के संरक्षण एवं प्रबंधन के प्रति संकेत मिलता है। ऋषि युग द्रष्टा थे जो प्रकृति के महत्व को समझ चुके थे इसीलिए प्रकृति के साथ शालीन एवं उदार भाव रखते थे। प्राकृतिक वातावरण न केवल बाहरी बल्कि आंतरिक स्वरूप को भी प्रभावित करती है। जिस प्रकार प्रेमी के हृदय में प्रेमिका स्थान (भाव) होता है वही स्थान प्रकृति का भी है।

वैदिक काल में जीवों का जीवन शैली शांत शाम्य एवं अनुकूल अवस्था में थी। क्योंकि पर्यावरण स्वच्छ एवं अपने आप में सुन्दर था फिर भी पर्यावरण के संतुलन बनाये रखने के लिए वैदिक ग्रंथों में स्तुति

* शोधार्थी, इतिहास विभाग, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा
** सहायक प्रध्यापक, इतिहास विभाग, जगदम कॉलेज, छपरा, जय प्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा

किया गया है। इसके लिए यजुर्वेद में श्लोक दिये गये है जिसमें पदार्थों के संतुलन बनाये रखने का उपदेश दिया गया है –

**वनस्पतयः शांतिविष्वदेवाः शांतिर्ब्रह्म शांति**
**सर्व शांतिः शांतिरेव शांतिः सा मा शांतिरेधि।**[3]

यहाँ पर शांति का आशय पर्यावरण संतुलन से है जो प्रकृति पदार्थों के संतुलन के संदर्भ में कहा गया है। लेकिन पर्यावरण संतुलन बिगड़ने से कई प्रकार के विकार उत्पन्न होने लगेगा और दूषित पर्यावरण से जीवों में कई असाध्य रोग उत्पन्न हो जाता है। कभी स्वयं नैसर्गिक प्रकृति कुपित होकर पर्यावरण में अंतर उत्पन्न कर देता है, जैसे बिजली का चमकना, तेज वायु, वर्षा अधिक होने को शमन अर्थात शांत करने का भी उल्लेख यजुर्वेद के "शांतिकरण" मंत्रों में पाया जाता है।

**ओउम् शं नो वातः पवताः शं नस्तपतु सूर्यः।**
**शं नः कनिक्रद्देव पर्जन्योऽअभिवर्षतु।**[4]

जब पर्यावरण में मंद सुगंध वायु बहता है तब सूर्यदेव प्राणी एवं पादप जगत को अनुकूल प्रकाश देते हैं और वर्षा धरा को हरा–भरा कर देता है। वैसी स्थिति में प्राकृतिक वातावरण आनंदमय एवं सुखद हो जाता है।

वेदों में ऐसी स्थिति बनाये रखने की सलाह दी गयी है जिससे प्राणी सुख एवं आनंद को ग्रहण कर सके। अर्थात सूर्य प्रकाश, पवित्र वायु, धरा से उत्पन्न अन्न, फल, फूल के सेवन से जीव स्वयं को स्वास्थ्य समझेंगे।

लेकिन प्रदूषण के समय सूर्य, वायु और वर्षा के काल में परिवर्तन नजर आने लगता है। इस परिवर्तन से उपस्थित समय को स्वयं जीव को भोगना पड़ता है। ग्रीष्म ऋतु में भीषण गर्मी के कारण जीव खिन्न हो जाता है। यजुर्वेद में कहा गया है कि

**ओउम् अहानि शंभवन्तु नः रात्री प्रति धीयताम।**[5]

आदर्श जीवन शैली के लिए आदर्श पर्यावरण की आवश्यकता होती है। इस के असंतुलन से कई प्रकार के पर्यावरण संकट खड़ा हो सकता है। जिसके वजह से चारा और खाद्यान संकट उत्पन्न हो सकता है जिससे जीव जन्तुओं में भुखमरी की खतरा उत्पन्न हो जाता है। इसका साकार रूप भी सामने आने लगा है। यह मानव के अस्तित्व पर प्रश्न खड़ा करता है। आज के ज्वलंत मुद्दा पर्यावरण संकट है। इस संकट को देश एवं विष्व स्तर पर खतरे के दृष्टि से देखा जा रहा है और इस पर वैष्विकस्तर पर चिंता व्यक्त किया जा रहा है तथा देश के सरकार द्वारा विष्व पर्यावरण दिवस के रूप में मनाया जा रहा है। पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन के लिए सरकारी एवं गैर–सरकारी संस्थाओं के द्वारा कई प्रकार के कार्यक्रम चलाये गये हैं। इस कार्यक्रम पर पर्यावरण एवं वन मंत्रालय द्वारा बजट का एक हिस्सा भी खर्च किया जाता है। भारतीय परम्परा में वृक्षारोपण को परोपकार का कार्य माना गया है। ऋग्वेद में वृक्षारोपण करने एवं क्षति न पहुँचाने की सलाह दी गई है। वनस्पति वन आप्यायध्वं

इसी प्रकार से पेड़ न काटने की सलाह यजुर्वेद के एक श्लोक में पुनस्य या ऽपयौषधी हिंसी वृक्षों की हिंसा नही करने की सलाह दी गयी है अर्थात वृक्षों को न काटा जाए। आज के आधुनिक युग में वृक्षों की अंधाधुन कटायी के कारण पर्यावरणविद चिंता व्यक्त कर रहे हैं। अब वन संसाधन नाममात्र के रह गये हैं। देखा जा सकता है कि जंगल आदिकाल में मानवों का स्थल रहा है। जंगल जीवमंडल का एक भाग है। इसका आदिकाल से महत्व रहा है। ये पर्यावरण को संतुलित करने एवं मानव के उत्कृष्ट जीवन का निर्माता रहा है। जंगल के अभाव में जीव, जन्तुओं एवं का सबसे बड़ा उपहार मानव का भी अस्तित्व नहीं रहेगा।

हमारी भारतीय संस्कृति, वन संस्कृति अर्थात आरण्य संस्कृति रही है। वन संस्कृति का आधार वृक्ष रहा है। हमारी परम्परा में वृक्षों को धार्मिक मान्यताएं प्रदान की गयी हैं। वृक्ष की तुलना पुत्र से की गई है। और वृक्ष को नुकसान पहुँचाना पुत्र को नुकसान पहुँचाने जैसी मान्यताएँ हैं। अथर्ववेद में कहा गया है कि वृक्ष को नुकसान पहुँचाना धरती के मर्म पर प्रहार जैसा बताया गया है।

हमारे वैदिक उपनिषदों, आरण्यक के अलावा महाभारत जैसे महाकाव्य में पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन करने की सलाह दिया गया है। यहाँ तक की साहित्यों में यक्षिणियाँ वृक्षों से आलिंगन की मुद्रा में दिखाई गयी हैं। हड़प्पा में स्त्री की नाभि से वृक्ष निकलता हुआ चित्र मिलता है जो उर्वरता एवं हरियाली संवर्धन का प्रतिक है। अथर्ववेद में

पृथ्वी से आग्रह किया गया है कि उसके ऊपर लहराते वन, जंगल सुखदायी हों तथा वन संरक्षक को नमन किया गया है।

धर्म ग्रंथों में वृक्षों को देवता माना गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि पृथ्वी वृक्ष से उत्पन्न हुई है। यह भी धारणा है कि देवताओं की आदि सृष्टि में असत् से सत् उत्पन्न हुआ इसके बाद दिशाएं और फिर वृक्ष।[6]

वृक्ष प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ उपहार है इसकी महत्ता का महिमामंडन वैदिक ग्रंथ में किया गया है। ऐसा भी सुना गया है कि ब्रह्म ने जल में बीज बोया और उससे वनस्पतियाँ इससे उपजी। इससे जानकारी मिलती है कि वृक्ष संसार में पहले आया था। आदिशक्ति जैसी है। वृहदारण्यक उपनिषद में मानव का स्वरूप वृक्ष जैसा बताया गया है। मनुस्मृति ग्रंथ में जानकारी मिलती है कि वट वृक्ष पर (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का निवास स्थान है। यह भी वर्णन मिलता है कि वट वृक्ष के पत्ता पर कृष्ण ने मार्कण्डेय ऋषि को दर्शन दिया था। अथर्ववेद में भी कहा गया है कि वृक्ष ब्रह्म आत्म जैसा है, साँस लेता है, खड़ा–खड़ा सोता है अर्थात उसकी रक्षा करनी चाहिए। ग्रंथ योग वशिष्ठ में कहा गया है कि पेड़–पौधे पुण्यार्जन के लिए मानव शरीर में आते हैं अर्थात इनके साथ जीव के जैसा व्यवहार करो। ग्रंथ मनुस्मृति के अनुसार पेड़ सुख–दुःख का अनुभव करते हैं।[7]

भारतीय परम्परा में वृक्षों को देवता की संज्ञा दी गयी है। जिस प्रकार देवता जीवों की कल्याण की कामना करते हैं, ठीक उसी प्रकार वृक्ष भी रोग निवारक होता है क्योंकि औषधि युक्त गुणों से सम्पन्न होता है। भगवत गीता में कृष्ण स्वयंम को औषधि और वृक्षों में पीपल मानते हैं। पीपल अन्य वृक्षों के तुलना में सबसे अधिक ऑक्सीजन उत्सर्जित करता है। पलाश को बुद्धि एवं स्मरण शक्ति वाला वृक्ष कहा जाता है। जामुन वृक्ष के प्रत्येक हिस्सा औषधि गुणों से सम्पन्न होता है। इसका फल एवं छाल मधुमेह रोग निवारक औषधि होता है। तुलसी भी ऑक्सीजन उत्पन्न करता है। तुलसी पौधा के विषय में मान्यता है कि रोज जिस घर में पूजा हो तो यमदूत भी नहीं पधारते हैं। नीम से कई प्रकार के औषधि प्राप्त किया जाता है; यह कीटाणु नाशक होता है। और आँवला भी औषधीय गुणों से युक्त होता है। प्रकृति में उपलब्ध सभी वृक्ष किसी न किसी प्रकार के औषधीय गुणों को धारण किए हुए हैं। वृक्ष महादेव के स्वरूप महाकाल के समान हैं क्योंकि जिस प्रकार महादेव ने जहर पिया था और जगत का कल्याण किया ठीक उसी प्रकार वृक्ष कार्बन–डाई–ऑक्साइड जैसे जहर को पीकर ऑक्सीजन जैसे अमृत देता है। भारतीय परम्परा में वृक्ष को सर्वश्रेष्ठ एवं महत्त्वपूर्ण माना गया है। वराह पुराण में कहा गया है कि जो व्यक्ति एक पीपल, एक नीम, एक बरगद, दस फूलों वाले पेड़, दो अनार, दो संतरे व पाँच आम का वृक्ष लगाता है वह व्यक्ति कभी नरक नहीं जाता है।[8]

हमारा अस्तित्व पर्यावरण पर निर्भर है। एक ऐसा आवरण जिससे मानव घिरा है अर्थात पर्यावरण है। वैदिक धर्मग्रंथों में पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में अनेक बातें कही गयी हैं कि प्रकृति ईष्वर की देन है, यह मानव के लिए अत्यंत मूल्यवान उपहार है। इसका लाभ मानव तभी प्राप्त कर सकता है जब इसका संरक्षण एवं प्रबंधन करेगा। यहाँ पर लाभ लेने का आशय प्रकृति संसाधन का सदुपयोग से है। प्रकृति संसाधन हर क्षण सुखदायी है लेकिन जब इनका दुरुपयोग किया जाता है तब ये सुख देना बंद कर दुःख देने लग जाता है। इस बात के विषय में ऋग्वेद के श्लोक में बताया गया है –

**प्रिया तष्टानि में कपिर्त्यकता व्यदुदूषत्।**
**शिरो न्वस्य राविषंन सुगं दुष्कृतं भुवं विष्वस्यादिन्द्र उत्तर।।**[9]

उपरोक्त श्लोक से ज्ञात होता है कि जब मानव प्राकृतिक संसाधन का दोहन करता है, तब सुख के स्थान पर दुःख प्राप्त करने लग जाता है। आज के समय में स्वयं तथा विश्व कल्याण के लिए प्रथम कर्तव्य है कि पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन के प्रति चिंतनशील बनें। क्योंकि स्वच्छ वातावरण में स्वच्छ जीवन का विकास होता है। मानव द्वारा किये गए कुकृत्यों के कारण संतुलन बिगड़ रहा है जिससे प्रकृति के कुपित स्वरूप आपदा एवं संकट के रूप में दिख रहा है, इसका अत्यंत भयावह परिणाम मानव अन्य जीव सहित चतुर मानव को भी भोगना पड़ेगा।

पर्यावरण अपने आप में समग्र (सम्पूर्णता) से पूर्ण है जिसका एक अंश मानवजन है। परन्तु इस सृष्टि में मानव का स्थान सर्वोच्च है तथा चिंतनशील प्राणी भी है। हमारे ऋषिजनों का पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन चिंतन दृष्टिगोचर होता है। पर्यावरण मानव के सभी क्रियाकलापों पर प्रभाव डालता है। वेद ग्रंथों में कहा गया है कि परमात्मा ने जीवों को जीवन दिया है, इनके संरक्षण की सारी व्यवस्थाएँ की तथा प्राकृतिक उपहारों को

बनाया जो एक दूसरे के लिए आवश्यक तथा संरक्षक भी है। जिससे परस्पर सभी जीवों की रक्षा होती है। यह सृष्टि चक्र निरंतर भविष्य की ओर अग्रसर होता रहता है।[10]

ऋषिजनों ने मानव जीवन के सही विकास के लिए शुद्ध तथा समृद्ध पर्यावरण को आधार माना है। वे प्रकृति के छोटे से छोटे जीव एवं संसाधनों के समक्ष स्वयं को उपासक मानते हैं। प्रकृति के प्रत्येक कण को शक्ति के स्रोत मानते हैं। इनकी रक्षा भी होनी चाहिए, वन्य जीव एवं वनों को बनाये रखने के दायित्व को स्वीकारते हैं। वन जलों को आकर्षित कर बारिश लाते हैं। वेद में जल को आपो ओषधीमती कहा गया है। प्रकृति की रक्षा करने से पारिस्थितिकी संतुलन एवं पर्यावरण की शुद्धता बनी रहती है। शुद्ध पर्यावरण से ही प्राणी मात्र जीवित रह पाएंगे।[11]

पर्यावरण की शुद्धता के लिए वैदिक ऋषियों ने वन के साथ–साथ जंगली एवं ग्राम्य पशुओं की उपयोगिता के आधार पर देवतुल्य मानते हैं और इनके संरक्षण एवं प्रबंधन पर जोर देते हैं। इससे विष्व का कल्याण सम्भव हो सकता है। ऋषिजनों ने पर्यावरण में पाये जाने वाले औषधि युक्त पेड़ों को नमस्कार करते हैं, इसके संरक्षण करने वाले को भी नमस्कार करते हैं। ऋग्वेद के दशम मंडल के एक सूक्त में वन की देवी आरण्यायी का वर्णन बहुत अन्नों वाली सबसे महान जीवों के माता के रूप में वर्णन है।

**आज्जनगन्धिं सुरभिं वह्ननामकृपी वलाम्।**
**प्राहं मृगाणां मातरमरज्यानितशंसिनीम्।।**[12]

वृक्ष ईश्वर प्रदत्त लाभकारी, हितकारी एवं कल्याणकारी उपहार है। वैदिक ग्रंथों में पंचमहाभूतों को वैदिक आधार माना गया है। ये जीवों को सुख एवं समृद्धि प्रदान करता हैं।

पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन के साथ–साथ ऋषियों ने शांति पाठ के भी विधान बनाये थे। माना जाता है कि हवन के धुआं से वायुमंडल शुद्ध होता है और इससे मानव का चित एकाग्र और शांत होता है।

**निष्कर्षतः**

हम कह सकते हैं कि पर्यावरण अमूल्य धरोहर है, हमारी प्राचीन परम्परा गौरवमयी रहा है। इस समय पर्यावरण शांत एवं संतुलित अवस्था में रहा है। इसके संतुलन के कारण वैदिक धर्मग्रंथों में पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबंधन का वैज्ञानिक विधि से है। अगर हम भावी पीढ़ी को स्वच्छ एवं सुन्दर जीवन शैली उपलब्ध करना चाहते हैं और वर्तमान विष्व को संकट से बचाना चाहते हैं तो वैदिक धर्म ग्रंथों एवं ऋषियों के परम्परा का अनुसरण कर वर्तमान एवं पूर्व दोनों को संरक्षित कर सकेंगे।

**संदर्भ ग्रंथः–**


1. डॉ.वीरेन्द्र सिंह यादव (सा.) — इक्कीसवीं सदी का पर्यावरणीय आंदोलन चिंतन के विविध आयाम, ओमेगा पब्लिकेशन्स, प्रथम संस्करण, 2010, दिल्ली, पृष्ठ–141
2. यजुर्वेद — 16/16
3. यजुर्वेद — 36/17
4. यजुर्वेद — 36/10
5. यजुर्वेद — 36/11
6. सुधांशु शेखर एवं दीपक कुमार दिनकर — पर्यावरण एवं मानवाधिकार, जागृति पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण, 2023, पटना, पृष्ठ–20
7. उपर्युक्त — पृष्ठ वही
8. उपर्युक्त — पृष्ठ 22
9. ऋग्वेद संहिता — 10/86/5
10. डॉ.सूर्यनारायण गौतम — वेद, यज्ञ एवं पर्यावरण, एजुकेशन बुक सर्विस, प्रथम संस्करण, 2014, नई दिल्ली, पृष्ठ –99
11. उपर्युक्त — पृष्ठ वही
12. ऋग्वेद — 10/146/6